वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

TM-03

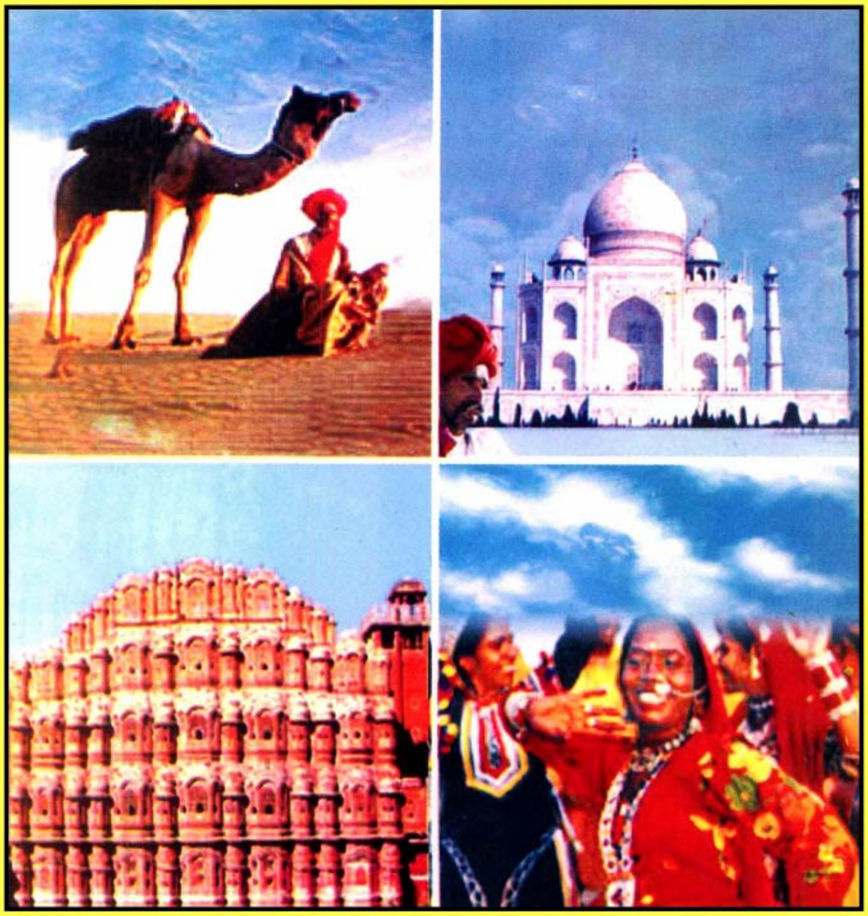

पर्यटन उत्पाद

खण्ड 4 एवं 5

TM-03

पर्यटन उत्पाद

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

खण्ड -4 : सांस्कृतिक पर्यटन

इकाई - 11	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	7–20
इकाई - 12	भारत की सांस्कृतिक विरासत	21–35
इकाई - 13	भारत की आश्रम व्यवस्था	36–50
इकाई - 14	भारत की मान्यताएँ	51–66
इकाई - 15	भारतीय मेले और त्यौहार	67–85
इकाई - 16	भारतीय व्यंजन	86–101

खण्ड -5 : भारतीय समुदाय

इकाई -17	वैदिक धार्मिक समुदाय	102–119
इकाई -18	भारत की धार्मिक समुदाय	120–131
इकाई -19	भारत के उत्सव	132–143
इकाई -20	पर्यटन के विविध रूप (केस स्टडीज़)	144–160

पाठ्यक्रम अभिकल्पना समिति

डॉ. आर.वी. व्यास
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा

प्रो. पी.के. शर्मा
आचार्य (प्रबन्ध) एवं
समन्वयक, पर्यटन अध्ययन,
निदेशक, वाणिज्य एवं प्रबन्ध अध्ययन
विद्यापीठ
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डॉ. राजेश कुमार व्यास
पर्यटन विषय विशेषज्ञ,
जयपुर

प्रो. संदीप कुलश्रेष्ठ
समन्वयक, भारतीय पर्यटन एवं
यात्रा प्रबन्ध संस्थान गोविन्दपुरी, ग्वालियर (म.प्र.)

पाठ्यक्रम लेखन

श्रीराम कुमार
पर्यटन विषय विशेषज्ञ,
55, न्यू आकाशवाणी कालोनी, कोटा

पाठ्यक्रम सम्पादन

डॉ. राजेश कुमार व्यास
पर्यटन विषय विशेषज्ञ,
जयपुर

आवरण पृष्ठ सज्जा

डॉ. राजेश कुमार व्यास
पर्यटन विषय विशेषज्ञ,
जयपुर

सामग्री उत्पादन

प्रो. पी.के. शर्मा
निदेशक,
पाठ्यसामाग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा

श्री योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
पाठ्यसामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा

पर्यटन उत्पाद

परिचय :

प्रस्तुत पाठ्यक्रम का उद्देश्य पर्यटन संबन्धित विषय वस्तु उपलब्ध करवा कर विद्यार्थी को पर्यटन उत्पादों की उत्पादों की जानकारी देना है । इस पाठ्यक्रम में पाँच खंडों में विभक्त बीस इकाइयाँ है ।

प्रथम खण्ड- पर्यटन उत्पाद के अंतर्गत तीन इकाइयों में पर्यटन की धारणा, पर्यटन उत्पादों का वर्गीकरण एवं प्राकृतिक एवं मानव निर्मित पर्यटन उत्पादों का विवेचन किया गया है ।

द्वितीय खण्ड- विविध उत्पाद में प्रदत्त तीन इकाइयो में प्रदर्शनात्मक कलाएं, भारतीय संगीत परंपरा एवं भारतीय शास्त्रीय नृत्य के विविध पहलुओं का वर्णन किया गया है ।

ऐतिहासिक परिदृशय नामक तृतीय खण्ड में प्रयुक्त चार इकाइयों में ऐतिहासिक इमारतें, अभयारण्य तथा भारत की हस्तकलाओं का वर्णन है ।

चतुर्थ खण्ड - सांस्कृतिक पर्यटन में छः इकाइयां हैं जो क्रमशः भारतीय इतिहास की रूपरेखा, सांस्कृतिक विरासत, आश्रम व्यवस्था, मान्यताएं, मेले और त्यौहार, व्यंजन आदि का वर्णन करती है ।

अन्तिम खण्ड - भारतीय समुदाय का विवेचन करता है जिसमें दी गई चार इकाइयाँ वैदिक धार्मिक समुदाय, भारत के धार्मिक समुदाय, उत्सव एवं पर्यटन के विविध रूपों पर आधारित है ।

खण्ड - 4 : सांस्कृतिक पर्यटन

इकाई -11	भारतीय इतिहास की रूपरेखा
इकाई -12	भारत की सांस्कृतिक विरासत
इकाई -13	भारत की आश्रम व्यवस्था
इकाई -14	भारत की मान्यताएँ
इकाई -15	भारतीय मेले और त्यौहार
इकाई -16	भारतीय व्यंजन

इकाई - 11 भारतीय इतिहास की रूपरेखा

रूपरेखा:

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 प्रागेतिहासिक एवं प्राचीन भारत

11.2.1 प्रागेतिहासिक काल

11.2.2 वैदिक काल

11.2.3 महाजनपद एव मगध का उदय

11.2.4 मौर्य साम्राज्य

11.2.5 भारत-2 सदी वी.सी. से 3 सदी ए.डी.

11.2.6 गुप्तकाल

11.2.7 गुप्तकाल के बाद का भारत (500-1000 ए.डी.)

11.2.8 सिन्ध और मुल्तान पर मुस्लिम आधिपत्य

11.3 मध्यकालीन भारत

11.3.1 भारत 1000 ए.डी. से 1526 ए.डी. तक

11.3.2 मुगल साम्राज्य 1526 से 1707

11.3.3 मुगल साम्राज्य का पतन (1707-1857)

11.4 आधुनिक भारत

11.4.1 यूरोपीय व्यापारियों का आगमन

11.4.2 साम्राज्य स्थापना हेतु संघर्ष एवं ब्रिटिश शासन

11.4.3 1857 स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध

11.4.4 स्वतन्त्रता संग्राम एवं भारतीय स्वतन्त्रता

11.5 भारतीय आदिवासियों का इतिहास

11.6 सारांश

11.7 उपयोगी साहित्य

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.0 उद्देश्य

पर्यटन से सम्बद्ध हर व्यक्ति के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि उसे अपने देश की विरासत जैसे - इतिहास, कला, शिल्प, संस्कृति आदि का ज्ञान हो । इस इकाई में हम संक्षेप में भारतीय इतिहास की प्रागेतिहासिक काल से लेकर 1947 तक की चर्चा करेंगे । इसमें आपको इस अवधि में घटित प्रमुख घटनाओं एवं हलचल की जानकारी हो सकेगी । इस काल के घटनाक्रमों ने भारतीय सांस्कृतिक विरासत को किस प्रकार प्रभावित किया, इसका भी आपको ज्ञान होगा ।

यह तो सभी को मालूम है कि पर्यटन पाठ्यक्रमों के सभी विद्यार्थियों ने अपने स्कूल के समय भारतीय इतिहास के बारे में कुछ न कुछ अध्ययन किया होगा । इसलिए इस इकाई में भारतीय इतिहास के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक पक्षों के विस्तार से विवेचन में न जाकर आपको भारतीय इतिहास के प्रमुख बिन्दुओं का स्मरण दिलाने का प्रयास किया गया है जिनका ज्ञान पर्यटन से सम्बन्धित हर व्यक्ति को होना चाहिए ।

11.1 प्रस्तावना

आप भली-भाँति जानते हैं कि हर देश के लोगों की स्मृति में किसी न किसी रूप में अपने देश का लोक जीवन मौखिक या लिखित कथाओं के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहता है और यह विगत का सिलसिला निरन्तर आगे बढ़ता रहता है । विगत के घटनाक्रमों का विवरण चट्टानों, स्तम्भों, कागज, पुरातात्विक अवशेषों, कला, साहित्य में कहीं न कहीं अंकित रहता है क्योंकि मनुष्य की यह आदिम प्रवृति है कि वह अपने आसपास के वातावरण के प्रभाव को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति देता है । यही वो स्रोत है जो हमें अपने विगत या भूतकाल से परिचित करवाते हैं । इतिहासवेता भी इन्हीं समेकित अवशेषों के आधार पर इतिहास के तार जोड़ते हैं ।

यहाँ हमें यह जरूर ध्यान में रखना होगा कि इतिहास का अध्ययन केवल सालों और तारीखों तक सीमित नहीं है । यह शासकों की सूचिमात्र भी नहीं है । इतिहास के अध्ययन में कला, साहित्य, शिल्प, दर्शन, धर्म, विविध भाषाओं के विकास, विगत में विभिन्न समुदायों की जीवनशैली, उनकी संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ, तकनोलॉजी के विकास में हर स्तर के समाजों का अध्ययन भी सम्मिलित है ।

भारत के सन्दर्भ में हम अपने इतिहास को तीन भागों में बाँट सकते हैं -

1. प्रागेतिहासिक एवं प्राचीनकाल (1000 ए.डी. तक)
2. मध्यकाल (1000- 1707 ए.डी. तक) और
3. आधुनिक काल (जिसमें समसामयिक इतिहास भी शामिल है)

लेकिन आप अच्छी तरह समझ सकते हैं कि इकाई की सीमाओं के कारण भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, ब्रिटिश शासनकाल जैसे कई मुद्दों पर विशेष विस्तार में जाना सम्भव नहीं होगा । इन पक्षों के बारे में आप को कुछ न कुछ जानकारी तो जरूर होगी । इसलिए प्राचीनकाल एवं मध्यकाल की चर्चा में थोडा अधिक विस्तार से जायेंगे ।

11.2 प्रागेतिहासिक एवं प्राचीन भारत

11.2.1 प्रागेतिहासिक काल

भारत में मानवीय गतिविधियों का सिलसिला पाषाणकाल या स्टोन एज से शुरू करें तो यह वह समय था जबकि मनुष्य पत्थर, लकड़ी या हड्डियों के औजारों या सामान का उपयोग करता था । ताम्बे, लोहे, ब्रोंज से बनी वस्तुओं का चलन नहीं था । पाषाणयुगीन कई स्थानों का भारत के विभिन्न भागों में पता चला है । ये पुराने पाषणकाल (पेलियोलिथिक) या नये

पाषाण युग (न्यू स्टोन एज) अथवा पाषाण युग के अन्तिम चरण (मेसोलिथिक) के समय के माने जाते है ।

पाषाणकाल के बाद तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी रही । लगभग ईसा से 2500 साल पूर्व ताम्बे (कोपर) का उपयोग करने वाला एक उच्च प्रकार की सभ्यता जिसे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता कहते हैं, का उद्भव हुआ । इस काल की सभ्यता के प्रमाण हड़प्पा की खुदाई में मिले । इसलिए इसे हड़प्पा सभ्यता भी कहा जाता है ।

इस सभ्यता के उद्भव अन्त, फैलाव के क्षेत्र, अवधि आदि के सन्दर्भ में कई मत हैं । पहले यह विचार आया कि यह सभ्यता सिन्धु घाटी तक सीमित थी । लेकिन हाल ही के अन्वेषणों से ज्ञात होता है कि यह सभ्यता आज के राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, गुजरात और सम्भवत: महाराष्ट्र के इलाकों तक फैली हुई थी । प्राचीन सभ्यता का पता मुख्यत: मोहन जोदडो, हड़प्पा (अब पाकिस्तान में), काली बंगन (राजस्थान), शेपड़ (पंजाब), आलमगिरपुर (यू.पी.), लोथल (गुजरात) आदि स्थलों पर मिले हैं । हड़प्पा की संस्कृति मुख्यतया नगरी प्रकृति की थी । वहाँ के निवासी सुनियोजित नगर में रहते थे जहाँ सीधी सड़कें, चौडी स्ट्रीट्स और अच्छी जल निकास या ड्रेनज प्रणाली थी । जहाँ भवन, स्नानघर एवं अन्य सुविधाएं निर्मित थी । उनकी अपनी एक लिपि थी । नाप-तौल की प्रणाली थी । वे गेहूँ और कपास की खेती करते थे । सिन्धु घाटी की सील्स से पता चलता है, वे हाथी, बैल आदि पशुओं के बारे में भी जानते थे । हड़प्पा सभ्यता के लोगों द्वारा मेसोपोटामिया (आधुनिक ईराक) एवं फारस की खाड़ी क्षेत्र के वासियों के साथ समुद्र के माध्यम से व्यापार होता था ।

1500 बी.सी. के आस-पास हड़प्पा सभ्यता का अन्त होने लगा । इस सम्बन्ध में विद्वान एवं मत नहीं हैं कि यह किसी प्राकृतिक आपदा के कारण हुआ या उत्तर-पश्चिम से आर्यों के आक्रमण के कारण या इन दोनों के कारणों से हड़प्पा सभ्यता का लोप हुआ । कोई अन्य कारक भी हो सकता है । लेकिन इस बारे में यह तो निश्चित माना गया है कि ईसा से 1500 वर्ष पूर्व या इसके आसपास आर्यों के ऋग्वैदिक मन्त्रों में यह संकेत दिया गया है कि समाज अर्द्ध-ग्रामीण या अर्द्धकृषि प्रधान था और नगरीय-जीवन का कोई प्रसंग नहीं मिलता । यह सब हड़पा सभ्यता से भिन्न बातें हैं ।

11.2.2 वैदिक काल

इतिहासकारों का मत है कि संस्कृत भाषा बोलने वाले इन्डो-आर्यों का भारत के उत्तरी मैदानों में 1500 बी.सी. के लगभग बसना प्रारम्भ हो गया था । चार वेदों में संग्रहित धार्मिक ऋचाओं से ज्ञात होता है कि आर्यों ने प्रकृति-पूजा एवं बलि देने पर बल दिया । यह काल आमतौर से वैदिक काल कहलाता है । सबसे पुराना वेद-ऋग्वेद माना जाता है जो 1500 बी.सी. और इससे पूर्व की घटनाओं पर प्रकाश डालता है जबकि अन्य तीन वेद कुछ समय बाद के अर्थात् 1200-1000 बी.सी के आसपास के हैं । इस कारण इतिहासवेताओं ने इस काल को वैदिक एंव इसके बाद का वैदिक काल इन दो भागों में विभाजित किया है ।

आर्य लोग घुम्मकड़ थे जो धीरे-धीरे कृषि की ओर उन्मुख हुए। उस समय सिन्धु-गंगा के मैदान, सघन वन थे । इसलिए खेती के लिए जंगलों को साफ करने की जरूरत हुई। लगभग 1000 बी.सी. से 800 बी.सी. के पास लोहे का उपयोग शुरू होने के बाद कृषि की प्रक्रिया आगे बढ़ने लगी । उत्तरी-पश्चिमी "सप्त सिन्धु" क्षेत्र से आर्य धीरे-धीरे पूर्व की ओर गंगा की घाटी के मध्य एवं विन्ध्या पहाड़ियों से आगे दक्षिण की तरफ बढ़ने लगे । भारत की रामायण एवं महाभारत दोनों प्रमुख महागाथाएं इसी काल की मानी जाती हैं यद्यपि इन मे समय के साथ कुछ न कुछ जुड़ता गया । वैदिक साहित्य के साथ इनसे वैदिक काल के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं, धार्मिक कार्यकलापों की जानकारी मिलती है ।

वैदिक जीवन शैली ने भारतीय संस्कृति को कई आयाम दिये । यह वह समय था जबकि जाति-प्रणाली विकसित हुई। समाज को वर्णों - ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र इन चार भागों में बाँटा गया । ब्राहमण पुरोहित के नियन्त्रण में देवों को प्रसन्न करने के लिए बलि प्रथा भी चली । साथ ही उपनिषदों के रूप में दार्शनिक विचारों का भी विकास हुआ। उनसे बाद के समय में आस्था की भारत में कई प्रणालियों का विकास हुआ। इसके पश्चात् आर्यों से पूर्व की तथा आर्यों की संस्कृति का आपस मे समन्वय हुआ।

11.2.3 महाजनपद काल एवं मगध का उदय

कृषि-समाज की स्थापना ने व्यापार के विकास को बढ़ावा दिया । कुछ ग्रामीण केन्द्र, विशेष प्रकार के उत्पादनों के लिए ख्याति पाने लगे । धीरे- धीरे क्राफ्ट का सामान बनाने वाले और मार्केट केन्द्र, छोटे-छोटे कस्बों में परिवर्तित हुए। इस काल को इतिहासकार "भारत का द्वितीय नगरीयकरण करते हैं । (हड़प्पा काल प्रथम नगरीयकरण काल था) कुछ अपवादों को छोड़कर, लोगों के बडे राजनैतिक समूह बने । इस प्रकार प्रारम्भिक जनजातियों, का स्थान इन समूहों के रूप में प्रगट होने लगा! इनमें से कुछ इकाईयाँ गणतन्त्र या रिपब्लिक बनी या गणतन्त्रों का समूह बने जैसे लिच्छवी, साख्या, मल्ला जबकि कुछ राजशाही के रूप में उभरे जैसे मगध, काशी, कोसाला और अवन्ति । यह समय "16 महाजनपदों का काल" कहलाता है अर्थात् बडे गणतन्त्रों एवं राजशाही या मोनार्की का समय माना जाता है । बुद्ध एवं महावीर इसी काल के हैं ।

इन 'महाजनपदों में से मगध जल्दी ही एक बहुत ही शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा जिसकी राजधानी राजगिरी थी । जो बाद में पाटलीपुत्र (पटना के पास) हो गई । इसके कई शासकों में बिम्बसार और उसका पुत्र अजातशत्रु समय के साथ शक्तिशाली राजाओं के रूप में उभरे । यह बुद्ध के समय के राजा थे । बाद में नन्द वंश के बलशाली राजा आये। नन्दवंश को चन्द्रगुप्त मौर्य ने 323 बी.सी. में सत्ता से हटाया ।

11.2.4 मौर्य साम्राज्य

चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा स्थापित मौर्य वंश ने भारतीय इतिहास में पहले बड़े साम्राज्य की रचना की। चन्द्रगुप्त मौर्य, उसके पुत्र बिन्दुसार और पोते अशोक ने विजय अभियानों और

संधियों से अपने साम्राज्य मगध की सीमाओं का विस्तार पश्चिम में काबुल तक तथा बाकी भारत में किया । पहली बार भारत किसी एक साम्राज्य के अधीन आया ।

मौर्य साम्राज्य की एक संगठित प्रशासन प्रणाली थी जिसके द्वारा न केवल कानून व्यवस्था को बनाये रखा गया बल्कि काफी राजस्व भी एकत्रित किया जाता था । बड़े पैमाने पर सिंचाई एवं सार्वजनिक निर्माण कार्य सम्पन्न किये गये । बड़े स्तर पर जल सेवा का प्रबन्ध किया गया । मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त के दरबार में अपने अनुभवों का रिकॉर्ड तैयार किया । चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री कौटिल्य ने अर्थशास्त्र लिखा । इन सबसे हमें इस काल की सूचनाएं प्राप्त होती हैं ।

मौर्य सम्राटों ने 150 वर्ष शासन किया । इनमें सम्राट अशोक को विश्व इतिहास में एक महान् व्यक्ति माना जाता है । अपने प्रारम्भिक शासन काल में साम्राज्यों पर विजय प्राप्त करने और युद्धों में लगे रहने के बाद अशोक ने अपना बाकी जीवन प्रजा की सेवा में बिताया । अशोक ने उच्च नैतिक आचरण, सही आचार संहिता एवं नैतिक मूल्यों को जीवन का आदर्श मानने के सन्दर्भ में शिक्षा देने में अपना जीवन समर्पित कर दिया । अशोक की घोषणाओं और सन्देशों को स्तम्भों और चट्टानों पर विभिन्न भाषाओं जैसे ब्राह्मी, खरोश्ठी आदि में देश के विभिन्न भागों में लिखा गया । उसके इन नैतिक आदर्शों को मूल स्थानों या संग्रहालयों में देखा जा सकता है। अशोक ने श्रीलंका, सीरिया, मिस्र, यूनान आदि कई देशों मे बौद्ध मिशन भेजे ।

11.2.5 भारत: 2 सदी बी.सी. से 3 सदी ए.डी. तक

मौर्य साम्राज्य के अन्त का परिणाम यह हुआ कि भारत के कई हिस्सों में बिखराव की स्थिति आ गई और वे कई वंशों के नियन्त्रण मे आ गये ।

उतर-पश्चिम में इन्डो -ग्रीक्स का शासन था । पहली सदी बी.सी. के बाद सेन्ट्रल एशियाई मूल के कुषाण आये। इस वंश के प्रमुख कनिष्क कुषाण साम्राज्य ने उत्तर-पश्चिम (वर्तमान पाकिस्तान) से मथुरा तक अपने पाँव पसारे । कनिष्क, बौद्ध धर्म का अनुयायी था । उसने बौद्ध धर्म का चीन और मध्य एशिया मे प्रसार किया । इस युग में कला और साहित्य का विकास हुआ । कला की गंधार शैली इसी युग से सम्बन्धित है ।

सिन्धु-गंगा के क्षेत्र में भी कई स्थानीय वंशों का उत्थान और पतन हुआ । पश्चिमी भारत में शकों सहित कई वंश शक्तिशाली थे । उत्तरी-दक्षिण में सतवाहन साम्राज्य था । दक्षिण भारत में चोला, पांड्या और चेरा, ये तीन साम्राज्य थे । व्यापार में वृद्धि हुई । समुद्री व्यापार भी बढ़ा । रोम के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध थे । भारतीय संस्कृति एवं विचारों का दूर-दूर तक प्रसार हुआ ।

11.2.6 गुप्तकाल

गुप्त वंश का उदय, इसके संस्थापक सम्राट चन्द्रगुप्त-प्रथम के शासन में 320 ए.डी. में उसके राजगद्दी पर बैठने के साथ हुआ। चन्द्रगुप्त एवं उसके बाद समुद्रगुप्त के शासन से अखिल भारतीय साम्राज्य का एक बार फिर उत्थान हुआ । मौर्यों के समान गुप्तवंश ने भी पाटलीपुत्र से शासन किया । चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ने सफलता के साथ दक्षिण भारत में विजय

अभियान चलाया । वह कला और संगीत का ज्ञाता था । वह एक महान् विद्वान भी था । समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वित्तीय (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) था । कुमार गुप्त और स्कन्धगुप्त भी महत्त्वपूर्ण शासक थे । गुप्त शासकों के काल में भारत में समृद्धि रही । इसलिए कई इतिहासवेत्ता गुप्तकाल को 'सुनहरा युग' मानते हैं ।

गुप्त काल में बौद्धिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ कुशल प्रशासन था । सार्वजनिक उपयोगिता के कई कार्य हुए और व्यापार का विस्तार हुआ । इस काल में कला और साहित्य के क्षेत्र में हुई अनेक उपलब्धियों के कारण इसे 'क्लासिकल एज' भी कहा जाता है । इस शासन में मूर्तिशिल्प, चित्रकला, शिल्प, संगीत और संस्कृत साहित्य का विकास हुआ । दर्शनशास्त्र और वैज्ञानिक सोच, विशेषकर ज्योतिष शास्त्र, गणित, औषधि आदि भी उच्च दर्जे के थे । यह काल इसलिए भी स्मरणीय है क्योंकि नालन्दा विश्वविद्यालय जैसे शिक्षा के केन्द्रों का विकास हुआ जहाँ भारत के विभिन्न हिस्सों एवं विदेशों के शिक्षार्थी आकर्षित होकर शिक्षा ग्रहण करने आते थे।

11.2.7 गुप्तकाल के बाद का भारत (500-1000 ए.डी.)

गुप्त साम्राज्य की केन्द्रीय सता के 500 ए.डी. में पतन की ओर जाने से भारत फिर कई बड़े और छोटे राज्यों में विभक्त हो गया । हूणों के आक्रमण ने लोगों को अस्त-व्यस्त कर दिया ।

7वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत में कोई नया साम्राज्य नहीं उभरा । सदी की शुरुआत में थानेश्वर और कन्नौज के हर्षवर्द्धन ने कश्मीर से असम और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के क्षेत्र को संगठित कर अपने साम्राज्य में शामिल करने का प्रयास किया । हर्षवर्द्धन वह अन्तिम हिन्दू सम्राट था जिसने लगभग पूरे उत्तर भारत पर शासन किया । उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया । गंगा घाटी का क्षेत्र पुन: छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया।

हर्ष की दक्षिण की ओर प्रगति पर उसी के बराबर शक्तिशाली शासक चालुक्य सम्राट, पुल्केसिन द्वित्तीय ने विराम लगा दिया, जो दक्षिण का शासक था । चालुक्य वंश को तमिल देश के पल्लवों से चुनौती मिली । आने वाली सदियों में फिर चालूक्य वंश का स्थल राष्ट्रकूटों ने ले लिया। 10वीं सदी में पल्लवों के बाद चोला शासकों ने अपना शासन स्थापित किया ।

7वीं से 11वीं शताब्दी ए.डी. की अवधि में दक्षिण भारत में काफी प्रगति हुई । सभी बड़े शासक वंशों और विशेषकर चालूक्य एवं पल्लव, बड़े निर्माता थे । उनके शासनकाल में ही शिला और निर्माण की एलोरा की गुफाएं और प्रसिद्ध महाबलिपुरम् का मन्दिर समूह बना । पल्लवों ने भारत के दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और जावा, चम्पा, कस्बोज आदि की कला को प्रभावित किया । चोला शासक भी अपने शासन और बडी सिंचाई परियोजनाओं एवं उपलब्धियों के लि प्रसिद्ध हुए । उनके पास समुद्री शक्ति अधिक थी और उन्होंने समुद्री सेना दक्षिण-पूर्वी एशिया में अभियानों के लिए भेजा । उनके साम्राज्य का 13वीं सदी ए.डी. में अन्त हो गया।

11.2.8 सिन्ध और मुल्तान पर मुस्लिम आधिपत्य

मोहम्मद बिन कासिम ने 712 ए.डी. में स्मिथ पर हमला कर उस पर कब्जा कर लिया और उसके बाद अपने राज्य का मुल्तान तक विस्तार किया । बगदाद के खलीफाओं की ओर से वह सेना का नेतृत्व कर रहा था । सिन्ध पर विजय के साथ इस्लाम के उत्तर भारत में विस्तार का अध्याय शुरू हुआ ।

11.3 मध्यकालीन भारत

11.3.1 भारत 1000 ए.डी. से 1526 ए.डी. तक

10 वीं सदी तक उत्तरी भारत एक बार और कई क्षेत्रीय राज्यों में बँट गया जैसे सोलंकी, परमार, प्रतिहार, चौहान, तोमर और पाला राज्य बन गये । दक्षिण की स्थिति का (1.2.7) वर्णन किया जा चुका है । यह वह समय था जबकि पूरे भारत में 'भक्ति आन्दोलन' जोर पकड़ रहा था । इस समय के आस-पास उत्तर-पश्चिम से भारत की धन सम्पदा लूटने का सिलसिला शुरू हुआ ।

अफगानिस्तान के सुल्तान गजनी ने 10वीं सदी के बाद भारत पर समय-समय पर धन की तलाश में हमले किये । उसके पश्चात् 1001 ए.डी. में गजनी के सुकन मोहम्मद ने गुजरात के सोमनाथ मंदिर को तहसनहस किया और सीमावर्ती राज्य पंजाब और उत्तरी-पश्चिम फ्रन्टियर एवं आसपास के हिन्दूशाही शासक को परास्त किया। लेकिन मुस्लिम हमलावरों का भारत में विस्तार का सपना 150 सालों तक रूका रहा । उसके बाद 1192-1193 में तराई के दूसरे युद्ध में मोहम्मद गौरी जीत गया । इससे पूर्व तराई की पहली लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान के नेतृत्व में उत्तर भारतीय फौजों ने तराई के पहले युद्ध में मोहम्मद गौरी को शिकस्त दी थी ।

मोहम्मद गौरी का गुलाम कुतुबुद्दीन अल्बक, गोरी के प्रतिनिधि के रूप में जनरल गोरी बन गया और 1206 में दिल्ली का पहला सुल्तान बना । कुतुबुद्दीन ने जिस वंश की स्थापना की उसे इतिहास में 'गुलाम वंश' के नाम से जाना जाता है । दिल्ली की कुतुबमीनार का निर्माण उसने ही शुरू करवाया था । थोड़े ही समय में इन्डो-गंगा का क्षेत्र इस्लामिश शासन के अन्तर्गत आ गया । इस प्रकार दिल्ली सल्तनत का काल शुरू हो गया था ।

1206 और 1526 ए.डी. के बीच उत्तर भारत पर दिल्ली के विभिन्न सुलतानों का नियन्त्रण था । गुलाम वंश के खिलजी, तुगलक ओर लोदी राज करते रहे । इनमे इल्तुतमिश, रजिया सुल्तान, बलबन, अलाऊदीन खिलजी, गयासुद्दीन, मोहम्मद तुगलक, फिरोज तुगलक और लोदी वंश के सिकन्दर और इब्राहीम थे ।

सुल्तानों ने डेकन और दक्षिण भारत सहित अन्य राज्यों के खिलाफ समय-समय पर अभियान जारी रखे । उत्तर भारत में राजपूत राज्य, जौनपुर, मालवा, गुजरात और बंगाल के सुल्तान शामिल थे । इसी समय 1330 में दक्षिण भारत में तुंगभद्रा घाटी में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई । हिन्दू साम्राज्य 250 साल तक रहा । दक्षिण के बहामनी राज्य में बहुधा अनबन रहती थी ।

1000-1526 ए.डी. के काल में क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्य का विकास हुआ। भक्ति आन्दोलन भी बढ़ा । सिक्किम का उदय हुआ। इस्लाम में पूर्व एवं बाद की संस्कृतियों का समन्वय हुआ। दिल्ली, मांडु, अहमदाबाद, बीजापुर, गोलकुण्डा, विजयनगर (हाम्पी) आदि नगरों का विकास हुआ। इस समय ये नगर दुर्गों, महलों, बगीचों और धार्मिक स्थलों के कारण भारत के बड़े पर्यटन आकर्षण के स्थल हैं ।

1526 में बाबर ने पानीपत की लडाई में दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को हराकर स्वयं भारत का शासक बन बैठा । इस प्रकार पानीपत की लड़ाई जीतकर एक और विदेशी वंश ने गद्दी पर कब्जा कर लिया और भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना की । बीच में कुछ समय के लिए शेरशाह सूरी ने बाबर के उत्तराधिकारी सम्राट हुमायूँ से गद्दी छीन ली थी । इस प्रकार इस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत की राजनीति में प्रवेश से पूर्व मुगलों का शासन था ।

मुगल वंश के पहले छह शासकों ने मुगल साम्राज्य की नींव मजबूत की । इनमें बाबर, हुमायूँ अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब शामिल थे । मुगल सम्राटों में अकबर सबसे तेज था । इसने उच्च सैनिक एवं प्रशासनिक पद, हिन्दुओं के लिए खोल दिये । उसने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के बीच तालमेल बैठाने के प्रयास किये । उसने जयपुर (आमेर) की राजपूत राजकुमारी से विवाह किया । अकबर ने पूर्व के मुगल शासकों द्वारा हिन्दुओं पर लादे गये जजिया कर को खत्म किया । यह कर औरंगजेब ने लागू किया था । उसने सभी शर्तों के मिश्रण में दीन-इलाही धर्म चलाया ।

मुगलों ने अपने साम्राज्य में समान प्रशासनिक प्रणाली शुरू की । संचार नेटवर्क, सड़कें आदि बनवाई । इससे व्यापार का विकास हुआ। अकबर ने अपने अधिकारी टोडरमल के माध्यम से भूमि का सर्वेक्षण करवाया ताकि भूमि की क्षमता के अनुरूप राजस्व प्राप्त किया जा सके । उसने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य आदि गतिविधियों को प्रोत्साहित किया । शिल्प, लघुचित्र शैली, सृजनात्मक साहित्य को फारसी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में बढ़ावा दिया । शाहजहाँ के आदेश से आगरा का ताजमहल बनवाया गया जो विश्वभर में प्रसिद्ध है । औरंगजेब (1658-1707) ने उन शासकों के खिलाफ बराबर युद्ध जारी रखे जो मुगल भावनाओं के विरूद्ध थे । मराठों, सिक्खों, राजपूतों, जाटों आदि के विरूद्ध वह लड़ता रहा । उसकी नीति का बाद में अकबर ने पलटा ।

11.3.3 मुगल साम्राज्य का पतन (1707-1857)

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी साम्राज्य की बागडोर को प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं सम्भाल सके । यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से शासन मुगलों के नियन्त्रण में था लेकिन धीरे-धीरे इसकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी। मराठा एक शक्ति के रूप में उभरे । औरंगजेब के समकालीन शिवाजी के अलावा मराठा पश्चिमी भारत एवं दक्षिण में शासन करते रहे । उत्तर में सिक्खों ने मुगलों की ताकत को चुनौती दी । सिक्खों ने अवध, बंगाल और हैदराबाद में अपने राज्यों को स्वतन्त्र घोषित कर दिया और मुगलों से नाता तोड़ दिया ।

इस प्रकार राजनैतिक ऊहापोह की इस स्थिति में 18वीं सदी में यूरोपीय व्यापारी कम्पनियों ने भारत में अपने पाँव फैलाने तथा क्षेत्रीय एवं राजनैतिक शक्तियाँ हथियाने का काम आरम्भ कर दिया ।

यद्यपि 1858 तक मुगल साम्राज्य कायम रहा लेकिन ब्रिटिश राज की हलचल शुरू हो चुकी थी । 1857 में ब्रिटिश शक्तियों ने आखिरी मुगल बादशाह, बहादुर शाह जफर को बर्मा की जेल में डाल दिया । इस प्रकार मुगल साम्राज्य का अन्त हो गया।

11.4 आधुनिक भारत

11.4.1 यूरोपीय व्यापारियों का आगमन

आरम्भिक काल से भारतीय समुद्र तटों ने व्यापारियों को आकर्षित किया । 1498 में वास्कोडिगामा ने भारत तक पहुँचने के लिए समुद्री तट की खोज की । इससे यूरोपीय समुद्री व्यापारिक शक्तियों के लिए नजदीकी संचार सम्भव हुआ । जल्दी ही पुर्तगाली, डच, डेनिश, फ्रेंच और अंग्रेज व्यापारी कम्पनियों के भारत एवं एशियाई देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने आरम्भ होने लगे । इससे परम्परागत बिचौले अरब व्यापारियों को छोड़ सीधे व्यापार का इनके लिए रास्ता खुल गया ।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पहले सूरत में और उसके बाद बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में अपने को स्थापित किया । जब तक भारत में मुगल शासक अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने में सक्षम रहे, ये विदेशी व्यापारी, व्यापार तक सीमित रहे । जब कभी उन्होंने स्थानीय शासन में दखल दी, उन्हें दण्डित किया गया । 18 वीं सदी के मध्य मुगल साम्राज्य के कमजोर होने पर स्थितियाँ बदलने लगी ।

11.4.2 शक्ति संघर्ष और ब्रिटिश शासन की स्थापना

1938 में मुगल साम्राज्य एक प्रभावी राजनैतिक संगठन की अपनी शक्ति खो चुका था । इस समय सबसे शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना शिवाजी ने की । उनके उत्तराधिकारी साधारण थे और वास्तविक शक्ति पेशवाओं के हाथ में थी । 1761 तक मराठों का प्रभाव - उत्तर में लाहौर, उड़ीसा और पूर्व में बंगाल की सीमा में और गंगा की घाटी में हो गया। यह लगा कि भारत के साम्राज्य पर मराठों का आधिपत्य सम्भव हो सकता है । 1761 ए.डी. में पानीपत की तीसरी लड़ाई में अफगान अहमदशाह दुरानी ने मराठों को हरा दिया । इससे मराठों के बढ़ते प्रभाव को धक्का लगा । इस युद्ध के बाद मराठों की भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश आगे नहीं बढ सकी।

इसी अवधि में ब्रिटेन की 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने पूरे भारत पर नियन्त्रण करने का प्रयास किया। इस समय तक अंग्रेजी एवं फ्रेंच कम्पनियों ने अन्य यूरोपीय कम्पनियों को भारत से बाहर कर दिया था । अब इन दो देशों की कम्पनियों के बीच द्वन्द था । दोनों में सत्ता हथियाने की दौड़ शुरू हुई । क्लाईव के नेतृत्व में ब्रिटिश सफल रहे । फ्रेंच अब सभी प्रभावपूर्ण राजनैतिक मसलों में पीछे रह गये ।

इसके बाद 1757 में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को परास्त कर बंगाल का नियन्त्रण सम्भाल लिया । बक्सर की लड़ाई में 1764 में उन्होंने मुगल बंगाल फौजों की मिली-जुली शक्ति को हराकर अपनी दूसरी जीत दर्ज की । इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने बंगाल प्रान्त, बिहार और उड़ीसा से दिवानी या राजस्व प्राप्ति का अधिकार ले लिया । बिना किसी प्रशासनिक दायित्व लिए । इसके बाद उन्होंने शोषण का खेल खेला । अब उनका हौंसला इतना बढ़ गया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी उत्तर के आन्तरिक हिस्सों में घुसने लगी और कई मुगलों के अधीन रहे हिस्सों पर कब्जा जमा लिया । वारेन हेस्टिंग के बाद के ब्रिटिश गवर्नर जनरल्स और बाद के वाईसरॉय भारत में ब्रिटिश टेरिटोरीज (1772-1947) के मुख्य प्रशासक बन गये । इनमें कार्नवालिस, वेल्सले, डलहौजी, रिपन, मिन्टो इर्विन और माउन्टबेटन शामिल थे ।

19वीं सदी के प्रारम्भ होते-होते अधिकांश भारत पर ईस्ट इन्डिया कम्पनी की सम्पूर्ण सत्ता कायम हो चुकी थी । जिन राज्यों पर वह अधिकार नहीं कर सकी, उनसे संधि कर ली या सम्बन्ध जोड़ लिए । मराठा फिर भी एक बड़ी ताकत थी । 1803 में वेल्सले के नेतृत्व में हुई लड़ाई में अंग्रेजों ने मराठा सैनिक शक्ति को तोड़ा। अब ब्रिटिश प्रभाव से केवल पंजाब अछूता रह गया । पंजाब, रणजीत सिंह के नेत्तृत्व में मजबूत एवं संगठित राज्य बना रहा । उनकी मृत्यु के बाद 1848 में अंग्रेजों और सिक्खों के बीच युद्ध हुआ और पंजाब भी अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। इस प्रकार 1850 तक पूरा भारत अंग्रेजों के अधीन हो गया ।

11.4.3 1857 स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध

1857 की घटनाओं ने विदेशी शासन के खिलाफ अपनी राष्ट्रीयता की आवाज उठाई । इसे भारतीय इतिहास में स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई माना गया है । आप जानते होंगे कि झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, तांत्या टोपे, नाना साहेब और अन्य वीरों ने 1857 के गदर' में ऐतिहासिक भूमिका निभाई थी ।

परिणामस्वरूप, ब्रिटिश क्राउन ने भारत का नियन्त्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी से छीनकर अपने अधिकार में ले लिया ओर इस प्रकार भारत एक ब्रिटिश कॉलोनी बन गया ।

11.4.4 स्वतन्त्रता संग्राम और भारतीय स्वतन्त्रता

शायद आप इस बात से अवगत होंगे कि 1857 और 1947 को ब्रिटिश राज के अन्त के बीच 90 साल में क्या-क्या प्रमुख घटनाएं हुई और किस प्रकार भारत ने आजादी की जंग जीती । आजादी के संघर्ष की पहली शुरुआत 1857 में हुई । राजा राममोहन जैसे समाज सुधारकों एवं विचारकों ने भारतीय मानस में चेतना जागृत करने की प्रक्रिया शुरू की । 1865 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन हुआ। अंग्रेजों ने कई कानून, अधिनियम आदि लागू किये जिनमें कुछ ठीक थे तो कुछ अन्यायपूर्ण । रॉलेट बिल और गोवर्नमेन्ट ऑफ इन्डिया एक्ट-1919, 1935 आदि भी लगाये गये । जलियाँवाला बाग में अंग्रेजों ने मौत का ताण्डव मचाया । लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, बी.सी.पाल, महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू आदि अनेक

नेताओं की अगुवाई में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष चला । गर्म दल के भगत सिंह, राजगुरू, चन्द्रशेखर आजाद जैसे युवाओं ने हँसते-हँसते आजादी के लिए फाँसी के फंदे को चूम लिया और अपना बलिदान दिया । गर्मदल की लड़ाई, ब्रिटिश हुकूमत को ताकत के बल पर उखाड़ फैंकने की थी । इसके साथ ही असहयोग आन्दोलन, अवज्ञा आन्दोलन 1922, 1930, 1942 के आन्दोलनों की श्रृंखला में भारत छोड़ो आन्दोलन चला। राउन्ड टेबल कांग्रेस हुई । मुस्लिम लीग ने अलग मुस्लिम राज्य की मांग उठाई । लाईमन कमीशन, केबीनेट मिशन आदि ब्रिटिश मिशन भारत आये इस प्रकार संघर्ष के एक लम्बे दौर को पार करने के बाद दुनियाँ मे स्वतन्त्रता प्राप्ति की एक ऐसी लहर चली जिसमें अंग्रेजों के पाँव उखड़ने लगे और आखिर अंग्रेजों को भारत की आजादी की मांग के सामने झुकना पड़ा।

उन्होंने भारत छोड़ने का निर्णय लिया । लेकिन जाते-जाते भी अंग्रेज अपनी चाल चल गये, मुस्लिम लीग की मांग पर भारत का विभाजन कर गये । इस प्रकार आजादी तो मिली लेकिन विभाजन की कीमत पर मिली और शहीदों के सपने अधूरे रह गये । इकाई की सीमाओं के कारण भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की लम्बी कहानी की कुछ प्रमुख घटनाओं का जिक्र किया गया है । साथ ही ब्रिटिश शासन के अन्य पक्षों और आधुनिक भारत पर उसके प्रभाव, आदि पर भी विस्तृत विचार सम्भव नहीं है ।

यह कह सकते हैं कि ब्रिटिश शासन काल में भारत का आर्थिक शोषण किया गया । इससे स्वदेशी आन्दोलन और ब्रिटिश उत्पादों के बहिष्कार के आन्दोलन चले । रेल्वे, संचार, टेलीग्राम आदि के नेटवर्क स्थापित करने जैसे उपयोगी कार्य भी अंग्रेजों ने किये । इरा प्रकार अंग्रेजी शासन काल के विविध प्रभावों आदि के बारे में आपको बहुत कुछ स्मरण होगा । साथ ही भारतीय पुनर्जागरण काल आदि के बारे में आप विस्तृत अध्ययन करके अपने ज्ञान को और समृद्ध कर सकेंगे।

11.5 भारत के आदिवासियों का इतिहास

आप 1857 और 1947 में अंग्रेजी शासन के अन्त और भारत की स्वतन्त्रता के बीच के 90 वर्षों के घटनाक्रम से काफी वाकिफ होगे । संक्षेप में स्वतन्त्रता की पहली लड़ाई 1857 में लड़ी गई, भारतीय विचारकों एवं राजा राम मोहन रॉय जैसे समाज सुधारकों ने 19वीं सदी में भारतीय चेतना को झकझोरा, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बनी, अंग्रेजों ने कई ठीक तो कई जुल्म ढहाने वाले कानून लागू किये, भारत का आर्थिक शोषण किया आदि ।

लेकिन इस तस्वीर का एक पहलू देश के कुछ ऐसे हिस्से भी हैं जहाँ के कुछ समुदाय सदियों से एक सीमित दायरे में अपना जीवन बसर करते हैं । भारत सरकार के 1950 के “अनुसूचित जनजाति” अधिनियम (संशोधित 1976 में) के अनुसार इन जनजातियों पर "अनुसूचित जनजाति” की मोहर लगा दी गई है । इन आदिवासी या पिछड़ी जातियों की चर्चा हमारे ऐतिहासिक मानस में उभर नहीं पाती है । यद्‌यपि प्राचीन एवं मध्यकालीन वनवासियों की चर्चा होती है । इन आदिवासियों के इतिहास के दृष्टिकोण से भी लोग अनभिज्ञ हैं ।

ऐसे लोगों के अपने विश्वास, अपने त्यौहार और मेले होते हैं जिनकी अपनी अलग पहचान और रंगत होती है । अनेक पर्यटकों के लिए एसे अनछूए प्रसंग आकर्षण के विशेष केन्द्र

होते हैं । वे इन आदिवासी क्षेत्रों, मेलों और उनकी जीवन शैली से रूबरू होने में गहन रूचि रखते हैं ।

आपके लिए भी यह उपयोगी होगा कि आप अपने क्षेत्र / राज्य के आदिवासियों के जीवन एवं उनके तौर-तरीकों, आस्था, विश्वास, मनोरंजन के माध्यम एवं प्रथाओं आदि के बारे में अभिरूचि दिखायें ।

11.6 सारांश

भारत की संस्कृति की प्रवाह प्रागैतिहासकाल से निरन्तर प्रवाहमय रहा हे । भारतीय संस्कृति, जीवन की ऐसी पद्धति है जो मनुष्य को परिष्कृत एवं संस्कारयुक्त बनाकर मानवीय जीवन की प्रगति को दिशा एवं गति प्रदान करता है । भारतीय संस्कृति की अति प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति का ज्ञान कराने वाले सबसे प्राचीन ग्रंथ वे हैं जिनके बिना भारतीय संस्कृति और साहित्य उतना ही अधूरा है जितना होमर के बिना यूनान का साहित्य । वेदों में मंत्र, प्रार्थनाऐं एवं आराधन है । वेद चार हैं - ऋगवेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अधर्ववेद । एक वेद की सम्पूर्ण ऋचाएं, मंत्र आदि के संग्रह को संहिता कहा जाता है । इसके अतिरिक्त धार्मिक कर्मकाण्ड एवं रीति-रिवाजों को सम्पन्न करने में ब्राहमण ग्रंथ मार्गदर्शक हैं । वेदों के अर्थ स्पष्ट रूप से समझने के लिए दार्शनिक एवं बौद्धिक प्रयासों के रूप में उपनिषदों की रचना की गई थी । इसके साथ 18 पुराण रचे गये हैं । रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ रचे गये । इस प्रकार भारत का अति प्राचीन साहित्य इसकी सांस्कृतिक विरासत का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है ।

भारत की पहचनान इसके दर्शन से भी है क्योंकि मनुष्य के विकास को बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति के शिखर तक ले जाने एवं सत्य की खोज में अपने आप को पहचानने में सक्षम बनाने के लक्ष्य से भारतीय दर्शन की रचना की गई थी । इसके साथ ही धर्म, जो कि मनुष्य जीवन से गहन सम्बन्ध रखता है, भारत में इसका अर्थ है, जो धारण करने योग्य है अर्थात् जिसे अपनाकर मनुष्य उच्चतम नैतिक मूल्य एवं आदर्शों के साथ जीवन बिता सके ।

रविन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय सांस्कृतिक समृद्धि एवं विरासत के बारे में अपने विचार प्रगट करते हुए कहा है कि 'मैं भारत से इसलिए प्यार नहीं करता हूँ कि यह एक भौगोलिक सत्ता है या मेरा यहाँ जन्म हुआ है बल्कि इसलिए करता हूँ कि भारत ने इतिहास के उत्थान पत्तन के घोर संघर्षों के बीच भी इस देश के सपूतों की 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की परिपाटी को संरक्षित एवं चेतन रखा है या सत्यम्, ज्ञानम्, अवन्तम्, ब्रहमा अर्थात् ब्रहम ही सत्य है और सत्य ही बुद्धिमता है, ब्रहम अनन्त है, ब्रहम अच्छाई एवं समस्तों जीवों की एकता में शान्ति है, जैसा सन्देश दिया।"

भारतीय सांस्कृतिक विरासत की यह विलक्षण विशेषता है कि इस संस्कृति में विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मतमतान्तरों आदि सभी को महत्त्वपूर्ण माना गया है । भारतीय संस्कृति एक विस्तृत दृष्टिकोण, स्वतन्त्र विचारों एवं संयोजन के आधार पर खड़ी है । इसी कारण से यह सदियों के एतिहासिक झंझावतों के बावजूद भी जीवन्त रही है और इसका प्राचीन वैभव कभी

फीका नहीं पड़ा है । धर्म एक प्रकार का आध्यात्मिक सूत्र है जो समाज को जोड़ता है और बाहर से विविधता के बावजूद एकता के तारों को जोड़े रखता है ।

भारतीय संस्कृति की विशेषताओं में नारी को उच्चतम स्थान दिया गया है । जहाँ नारी की पूजा और सम्मान है, वहाँ देवों का वास होता है । इस वाक्य के साथ मनु ने भारतीय समाज व्यवस्था में नारी को परिवार की धूरी माना है । यह बात और है कि समय के लम्बे दौर में सामाजिक परिस्थितियों के कारण समाज में विकृतियाँ, कुरीतियाँ आदि पैदा हुई है परन्तु भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के प्रसंग में नारी, शिव के साथ शक्ति-रूपा है । वही माँ है - वही जगत-जननी है ।

भारतीय जीवन की परिष्कृत संवेदनाएं, उच्च जीवन मूल्य और सांस्कृतिक समृद्धि के दर्शन न केवल यहाँ के वेदों, पुराणों, संगीतज्ञों, साहित्य, सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं एवं आदर्शों में ही सम्भव है बल्कि देश के कौने-कौने में प्राचीन मंदिरों, महलों, दुर्गों, स्मारकों, स्थापत्य, शिल्प, हस्तशिल्प, संगीत, नृत्यों आदि के रूप में भी अभिव्यक्त हुई है । भारत की सांस्कृतिक विरासत न केवल प्राचीन है बल्कि अनेक विशेषताओं से युक्त एक जीवन्त संस्कृति है जो कागज, काष्ठ, पत्थर या कठोर लोहे जैसी धातुओं के रूप में भी ढली और व्यक्त हुई है।

भारतीय संस्कृति में इतनी विविधता, भिन्नता नजर आती है और इसके इतने रूप बाहर से दिखाई देते हैं कि एकाएक भौतिक दृष्टि वाले लोग इसके मर्म को समझ नहीं पाते हैं । इसके लिए गहन और सूक्ष्म अध्ययन की जरूरत है । भारतीय संस्कृति जितनी सरल लगती है, उतनी ही समझने में कठिन भी और यदि इसे भौतिक दृष्टि से देखे तो अलग चित्र उभरता है जैसे कि कई विदेशियों ने भारत को सपेरों या गरीबों के देश के रूप में, विकृत रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की । कहते हैं जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि ।

लेकिन अब आधुनिक यातायात के साधनों एवं संचार के साधनों के प्रसार के कारण दुनियाँ करीब आई है और सदियों से बनी हुई भारत की संस्कृति के प्राचीन स्वरूप को टटोलने और समझने की दिशा में अनेक विद्वान संलग्न हुए हैं । भारतीय संस्कृति में हर प्राणी के कल्याण की भावना को बल दिया गया है और मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठ रचना माना गया है । भारतीय संस्कृति की सदियों से चली आ रही परम्परा में इसी मनुष्य की मानवता के विकास पर सतत् बल दिया गया है ।

11.7 कुछ उपयोगी साहित्य

1. Govt. of India : Gazetteer of India, Vol.2, History & Culture 1973.
2. Kuriya George : India A General Survey New Delhi, National Books Trust, India, 1969.
3. Landstrom, Bjorn : The Quest of India, Doubleday, 1964.
4. Mukherjee Radha Kumuni : Hindu Civilization Part-I & II Bombay, Bhartiya Vidya Bhawan.

5. H.D. Sankali : Indian Archaelogy Today, Asian Publishing House,Bombay, 1962.
6. Panniker K.M. : A survey of Indian History, Bombay, Asia Publishing House, 1957.
7. Watson, Francis : A concise History of India, London, Thames & Hudson, 1974.

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. अपने जिले या राज्य के इतिहास की सूचनाएं एकत्रित करें । इस पर एक लघु आलेख तैयार करें?
2. जब कभी सम्भव हो अपने आसपास के संग्रहालय का भ्रमण करें । वहाँ प्रागैतिहासिक काल, मौर्य, गुप्त वंश आदि कालों के मूर्ति शिल्प, टूल्स आदि का अध्ययन करें । यदि कोई देशी-विदेशी पर्यटक आपसे संग्रहालय के भ्रमण के समय आपसे स्थानीय इतिहास की जानकारी चाहें तो क्या आप उसे सन्तुष्ट कर पायेंगे ।
3. अपने परिवार या परिचितों से पुराने जमाने की दो कलाएं जानने का प्रयास करें । इससे आपको यह जानने में मदद मिलेगी कि जब लिखित रिकॉर्ड नहीं मिलते थे, उस युग का इतिहास किस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से स्थानान्तरित होता था ।

इकाई - 12 : भारत की सांस्कृतिक विरासत

रूपरेखा :

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 मेले और त्यौहार
12.3 मिथक, किवदंतिया
12.4 स्मारक
2.4.1 मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारे, चर्च
12.5 संग्रहालय
2.5.1 संग्रहालयों के प्रकार
12.6 जीवित संस्कृति और प्रदर्षानात्मक कलाएं
12.6.1 भारत का सांस्कृतिक जीवन
12.6.2 हस्तशिल्प
12.6.3 वस्त्र निर्माण
12.7 आनुष्ठाणिक कलाएं
12.8 प्रदर्शनात्मक कलाएं
12.8.1 नृत्य
12.8.2 संगीत
12.8.3 रंगमंच
12.9 सारांश
12.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
12.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 उद्देश्य

सांस्कृतिक विरासत, नैतिक मूल्य, जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक विविधता आदि किसी भी जाति, नस्ल, समाज और देश की वो विशेषताएं हैं जिनमें देश विशेष की आत्मा का वास होता है । यदि दुनिया को दो भागों के रूप में देखें तो एक और पश्चिम की संस्कृति है तो दूसरी ओर सदियों पुरानी और प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति है । संस्कृति किसी भी देश की परम्पराओं, रीति-रिवाजों, इतिहास, कलाओं, स्मारकों, संग्रहालयों, धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं का मिलाजुला स्वरूप है । भारत दुनिया की प्राचीनतम संस्कृति एवं सभ्यता का केन्द्र माना जाता है । अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के विभिन्न दौरों और उत्थान-पतन के बीच अपना पुराना वैभव संरक्षित नहीं रख सकी । लेकिन भारत में सांस्कृतिक चेतना की अविरल धारा सदियों से प्रवाहवान् रही हैं ।

इस सन्दर्भ में इस इकाई के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं इसकी समृद्ध विरासत के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा ताकि आप स्पष्ट रूप में यह बता सकें कि भारतीय-सांस्कृतिक चेतना के केन्द्र क्या हैं? किरन प्रकार भारतीय सांस्कृतिक विरासत हमें विगत के लम्बे समय से जोड़कर गर्व एवं गौरव की अनुभूतियाँ प्रदान कर रही हैं ।

सांस्कृतिक विरासत केवल मूर्त रूप में ही विद्‌यमान नहीं रहती । प्रागेतिहासकालिन चट्टानों पर अंकित आदिमानव की टेढी-मेढ़ी रेखाओं में अभिव्यक्त भावनाओं, खण्डहरों, दुर्गों, मंदिरों, महलों, देवालयों, स्मारकों संग्रहालयों में संचित विविध प्राचीन सामग्री, प्रदर्शनात्मक और जीवन्त कलाएं, हमारे धार्मिक विश्वास और आस्थाओं आदि के साथ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य आदि के अनेक सूत्र और धागे हैं जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर या विरासत का ताना-बाना बुनते हैं । जब इन सबको समेटकर हम इन पर विहगम दृष्टि डालते हैं तो इस विविधता में एकरूपता दृष्टिगोचर होती है । भारत में अनेक जातियाँ, पंथ, सम्प्रदाय, अनेक बोलियाँ, भाषायें, विविध वेशभूषा, त्यौहार, मान्यताएं इत्यादि को देखकर लगता है कि यहाँ तो भिन्नताऐं हैं । परन्तु ये भिन्नताएं सागर में समाहित होने वाली उन नदियों और धाराओं की तरह है जो सागर में जाने के बाद एक हो जाती हैं ।

भारतीय संस्कृति की भी यह विशेषता है कि समृद्ध और अति प्राचीन अनेक क्षेत्रीय सांस्कृतिक धाराओं ने इसे एक जीवन्त और विराट संस्कृति का रूप दिया है । यही कारण है कि धरातलीय स्तर पर भिन्नता या विविधता के बावजूद इस संस्कृति की चेतना में एकता है । इसका एक रूप और स्वरूप है ।

इस इकाई का लक्ष्य आपको सांस्कृतिक विरासत का साक्षात्कार कराना है ताकि आप इसके मूर्त रूप में छिपे अमूर्त और इसके विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकें ।

12.1 प्रस्तावना

इतिहास का आधार सदियों के दौर में पीछे छूटते अवशेष, संकेत, चिन्ह, प्रतीक आदि हैं लेकिन संस्कृति का वास इतिहास की सामग्री के साथ-साथ सदियों से एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक स्थानान्तरित होते, रीति-रिवाज, आस्थाएं, विश्वास, धार्मिक कार्य, संगीत, नृत्य, कला, नाट्‌य, साहित्य आदि के रुप मे विस्तार से फैली सामग्री भी होती है । इसलिए सांस्कृतिक विरासत का क्षेत्र व्यापक है । यहाँ तक की खण्डहर, इमारतें, दीवारें और पत्थरों पर बेजुबान कहानियाँ लिखी रहती हैं, जो अपने विगत का साक्ष्य बन जाती है ।

अनेक बार पर्यटक जो पश्चिमी दुनियाँ से आते हैं वे बाग-बगीचों या आधुनिक आलीशान इमारतों और आधुनिक जीवन-शैली में रूचि नही रखते क्योंकि यह तो उनके देशों में भी उन्नत रूप में विद्‌यमान हैं । लेकिन वे वास्तव में भारतीय खण्डहरों, देवालयों और मंदिरों, दुर्गों, मेलों, त्यौहारों, प्रदर्शनात्मक और अन्य कलाओं, वस्त्रों और वेशभूषाओं की विविधता में भारतीय जीवन शैली और उस दर्शन की खोज करने, उससे साक्षात् करने और अनुभूत करने आते हैं जो प्राचीनकाल से निरन्तर इन सबमें जीवन्त बना हुआ है और यही तो सांस्कृतिक विरासत और धरोहर है । इसलिए इकाई की सीमाओं के बावजूद आप यहाँ यह स्पष्ट कर सकेंगे

कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत की क्या विशेषताएं हैं और इसमें आखिर ऐसा क्या है जो सारी विविधताओं के बावजूद एक रंग है ।

संस्कारों से मनुष्य की समस्त क्रियाऐं संचालित होती हैं और भारतीय जीवन-दर्शन में जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कार होते हैं । यहाँ जन्म हो चाहे विवाह या चाहे मनुष्य की अन्तिम यात्रा, सबके पीछे सार्थकता और संस्कारित किये जाने के प्रसंग जुड़े हैं । जीवन के अन्त पर भी अन्तिम संस्कार ही होता है । इस प्रकार एक नहीं अनेक ऐसे बिन्दू हैं जो भारतीय संस्कृति का निर्माण करते हैं ।

संस्कृति के विराट स्वरूप के दर्शन कराने एवं अनुभूत करने की श्रृंखला में त्यौहार, मेले और उत्सव आदि की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है ।

12.2 मेले और त्यौहार

मेलों ओर उत्सवों की भारतीय जीवन में एक लम्बी और समृद्ध परम्परा चली आ रही है। इन मेलों और उत्सवों से अनेक प्रसंग, कथाएं और पौराणिक सन्दर्भ जुड़े हुए हैं । मौसम या समय-परिवर्तन के साथ मेलों और उत्सवों में जनजीवन की अनेक आस्थाएं और विश्वास उन्मुक्त रूप में अभिव्यक्त होते हैं । सांस्कृतिक परिवेश जीवन्त और साकार रूप धारण कर लेता है । इनके विभिन्न अनुष्ठान, रीति-रिवाज और परम्पराएं होती हैं ।

फिर चाहे वह लेह का 'हमीज' उत्सव हो या पुष्कर का पशुमेला या जयपुर की गणगौर या गोवा का कार्निवल या केरल का ओणम या नौका दौड़ । इनमें इतिहास, संस्कृति, जीवन-शैली, जीवन-दर्शन और विभिन्नता के साथ सांस्कृतिक एकरूपता के तार जुड़े हुए हैं । समय के परिवर्तनों की भी इनमें झलक मिलती है और यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ जीवन और संस्कृति का प्रवाह गतिमान है।

12.3 मिथक, किवदन्तियाँ

यथार्थ के धरातल पर अनेक कथाओं, किवदंतियों और मिथकों को तर्कसगत ढंग से प्रभावित करना कठिन होता है लेकिन जब वे जीवन की आस्था से जुड़ जाती हैं और जनमानस में रच-बस जाती है तो वह क्षेत्र विशेष या समुदायों की मान्यताएं बन जाती हैं । कल्पनाएं भी यथार्थ की ही तरह जीवन का एक अंग होती हैं । भले ही लोक-जीवन की कल्पनाएं और मान्यताएं इतिहास में स्थान न पा सके । चाहे इन्हें रचनाकारों की काल्पनिक सृष्टि माना जाये लेकिन समय विशेष के यथार्थ और समाज-व्यवस्था में वे प्रतिबिम्बित होती हैं । शेमिला थापर के शब्दों में मिथक, किसी समाज और संस्कृति के प्रतिबिम्ब होते हैं।

12.4 स्मारक

सम्पन्न परिवारों या राजाओं, महाराजाओं, साधु-सन्तों, की छतरियाँ या स्मारक, खण्डहरों में बदलती कई ऐतिहासिक इमारतें आदि में इतिहास और संस्कृति के अनेक पृष्ठ फड़फड़ाते हैं । ये कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कहते हैं । ये संस्कृति के दृष्टा और वक्ता माने जाते हैं । इनमें इतिहास और संस्कृति छिपे रहते हैं । अनेक ऐसे पहलू हैं जो अलग-अलग

लगते हैं और अलग-अलग मार्ग पर चलते हैं । उनमें कई असमानताओं के साथ कुछ समानताऐं भी होती है जैसे इतिहास में जहाँ संस्कृति का पुट होता है वहीं संस्कृति के साथ कहीं इतिहास भी चलता नजर आता है ।

यही कारण है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिले अवशेषों, ईंटों, बर्तनों या अन्य उपयोग की वस्तुओं आदि में इतिहास के सूत्र खोजने के साथ-साथ तत्कालिन जीवन और सांस्कृतिक-धारा की तलाश की जाती है और ये पुरातात्विक सामग्री या स्मारक, संस्कृति का अंग बन जाते हैं । हड़प्पा वह पहला स्थल था जिसकी खुदाई 1920 के दशक में आरम्भ की गई । यह पश्चिमी पंजाब में राबी के तट पर स्थित है । इसके आकार और यहाँ मिली वस्तुओं के आधार पर तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का आकलन किया गया है । मोहनजोदड़ो सिन्ध नदी के तट पर स्थित है जो अब पाकीस्तान में है ।

इसी श्रृंखला में राजस्थान में कालीरंगन बस्ती, घग्घर नदी के किनारे हैं । गुजरात में लोथल आदि में मिली सामग्री, प्राचीन नगरों की बनावट आदि विविध पक्षों के आधार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति का अनुमान लगाया जाता है । इन खुदाई कार्यों से यह भी स्पष्ट हुआ है कि भारतीय संस्कृति कितनी पुरानी और समृद्ध रही है । समय या प्राकृतिक थपेड़ों, आक्रमणों या अनेक प्रकार की उथल-पुथल के बावजूद इसका अस्तित्व निरन्तर बना हुआ है । इस संस्कृति में स्वतन्त्रता और गतिशीलता को प्रमुखता दी गई है । यही कारण है कि धरातलीय विभिन्नताओं के पनपने के बावजूद इसकी आत्मा एक रह सकी है ।

भारत में स्मारकों, महलों, मंदिरों और दुर्गों आदि की स्थापत्य कला एवं शिल्प, मूर्तिकला, चित्रकला जैसे अनेक पहलू ऐसे हैं जो विभिन्न कामों में हुए परिवर्तनों के कारण शैलीगत विशेषताएं लिए हुए हैं लेकिन इनमें विविधता के बावजूद भारतीय संस्कृति के चिन्ह भी मौजूद हैं । अनेक आक्रमण और दबाव भी भारतीय जीवन की परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों और आस्थाओं को समाप्त करने में सफल नहीं हो सके । हर उत्सव, हर त्यौहार, और मेले, हर स्मारक आदि से कहीं न कहीं कोई सांस्कृतिक परम्परा जुड़ी हुई है । संस्कृति को भारतीय मनीषियों ने जीवन का अंग बना दिया और धर्म को जीवन को उच्च मूल्यों के साथ सार्थकता से जीने की एक पद्धति बना दिया और यही कारण है जीवन की हर धड़कन और साँस मे यहाँ की संस्कृति का स्पन्दन है । इसी प्रकार बोध गया (बिहार), मांची और भहुत स्तुप (मध्यप्रदेश), बोधगया, तक्षशिला आदि का स्तूप भी भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के अंग हैं ।

12.4.1 मन्दिर, मस्जिद, गुरूद्वारे, चर्च और धर्मस्थल

मंदिरों की स्थापना, शैली और बनावट आदि के साथ देवी-देवताओं को और भी गरिमामय बनाने के लिए उड़ीसा के कोणार्क का सूर्य मंदिर, एलिफेंटा और एलोरा (महाराष्ट्र), ओसियाँ (जोधपुर), हरिद्वार, जेलिका मंदिर, खज्जुराहो के चंदेल मंदिर, भूवनेश्वर और पूरी के जगन्नाथ मंदिर, कश्मीर और जम्मू के मंदिर, दक्षिण में कर्नाटक, केरल, आन्ध्र और तमिलनाडु के मंदिर आदि मंदिरों की एक विशाल श्रृंखला की शैलीगत और स्थापत्य से पूर्ण भव्यता और

इनके साथ जुड़े प्रसंग, उत्सव और मान्यताऐं, भारतीय संस्कृति की लम्बी विरासत के अभिन्न अंग हैं ।

कई विदेशी आक्रमणकर्ताओं और औरंगजेब जैसे मुगल शासकों ने भारत के अनेक भव्य और विशाल, कला और स्थापना से युक्त बेमिसाल मंदिरों में लूटपाट मचाई और उन्हें ध्वंस किया ।

लेकिन भारतीय संस्कृति का क्षेत्र व्यापक है और यहाँ कदम-कदम पर किसी आराध्य देव या देवी का मंदिर या देवरा है जो जनआस्थाओं के जीवन्त केन्द्र हैं और यही कारण है कि विध्वंस भारतीय संस्कृति की समृद्धि और वैभव को खत्म नहीं कर पाये ।

इस प्रकार चाहे विभिन्न मतों, धर्मावलम्बियों या सम्प्रदायों जैसे बौद्ध, जैन, सिक्ख, हिन्दु, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि के सभी आस्था स्थलों के प्रति समान रूप से आदर, सम्मान और आस्था से पूर्ण सामंजस्य की अद्भुत परम्परा और सांस्कृतिक विशेषता भारत में सदियों से चली आ रही है । हिन्दुओं के भारत की चारों दिशाओं में फैले महातीर्थ हों, चाहे अजमेर में ख्वाजा गरीब नवाज की दरगाह है या अमृतसर का स्वर्ण मंदिर, बौद्धों के तीर्थ हों या महावीर स्वामी से सम्बन्धित भारत के आस्था स्थल हों या गोवा के गिरिजाघर आदि सभी पूजनीय और सम्माननीय माने जाते हैं । भारत की सांस्कृतिक परम्परा की इन्हीं विशेषताओं ने इसे पुष्ट और जीवन्त रखा है । यहाँ धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

12.5 संग्रहालय

संग्रहालय हमारी सांस्कृतिक धरोहर के आधार है । स्मारकों के साथ संग्रहालयों की संस्कृति के प्रमाण उपस्थित रहते हैं । कला, संगीत, वाद्य, साहित्य, उपयोग में ली जाने वाली या जीवनशैली से विभिन्न समयों में जुड़ी वस्तुओं आदि विस्तृत परिवेश का परिचय देने वाली पुरातात्विक एवं अहम् सामग्री का संग्रहालयों में संग्रह रहता है जो विविध सांस्कृतिक पहलुओं का जीवन्त परिचय देता है ।

12.5.1 संग्रहालयों के प्रकार

वैसे तो संग्रहालयों में स्थापत्य कला, जीवनशैली से सम्बन्धित सभी पुरातात्विक सम्पदा का संग्रह किया जाता है लेकिन कुछ संग्रहालय वस्तुओं के वर्गीकरण के आधार पर विशेषताएं लिए भी होते हैं ।

राष्ट्रीय संग्रहालय - 1947 में लन्दन की रॉयल एकेडमी में प्रदर्शनी लगाई गई थी । उस प्रदर्शनी में भारत की उपलब्ध अमूल्य निधियाँ प्रदर्शित की गई थी । यों तो माना जाता है कि भारत में चित्रकला, मूर्तिकला, प्रशस्तर धातुओं, लकड़ी आदि से बनी या उन पर अंकित अद्भुत कलाकृतियों का खजाना था लेकिन इतनी विशाल स्तर पर फैली सांस्कृतिक का संरक्षण सम्पूर्ण रूप से नहीं किया गया । इसलिए कई अमूल्य विधियाँ विदेशों मे अवैध तरीके से चली गई या बेच दी गई । बहरहाल, जो कुछ आजादी की समय सुरक्षित निधि थी, वह राष्ट्रपति भवन में थी । 1960 में इस अमूल्य विरासत को अलग भवन में स्थानान्तरित किया गया और इसे

राष्ट्रीय संग्रहालय का नाम दिया गया । इस प्रकार इस संग्रहालय में विभिन्न प्रकार की डेढ़ या दो लाख विधियाँ रखी गई हैं ।

राष्ट्रीय संग्रहालय में अनेक निधियाँ हैं । इन विधियों (गैलेरीज) में ऐतिहासिक या कालानुसार अलग-अलग समय की पुरातात्विक एवं अन्य प्राचीन वस्तुएं सजाई या व्यवस्थित रूप में प्रदर्शित की गई हैं ।

राष्ट्रीय संग्रहालय में सिन्धु घाटी सभ्यता की वस्तुएं भी संग्राहित हैं तो मौर्य शासन काल की मूर्तियों और शिल्प का भी खजाना है । शुंग काल के नमूने भी हैं । गांधार कला और मथुरा की मूर्तियाँ भी विधियों में सुसज्जित हैं । कला की कई स्थानीय शैलियों पर गुप्तकाल का प्रभाव पड़ा था । इस युग में पहला हिन्दू मंदिर बना था । यहाँ इस काल में बनी बुद्ध, विष्णु की मूर्तियों के अतिरिक्त भारतीय मूर्ति शिल्प की गौरवमय परम्परा के दर्शन होते हैं । रेशम मार्ग की आर एल स्टीन ने खोज की । इस सन्दर्भ में मिली वस्तुऐं जैसे भारतीय वस्त्र, हाथीदाँत एवं सजावट की कलाकृतियाँ, कबिलाई कला, धातु की मूर्तियाँ, आभूषण आदि का भी प्रदर्शन किया गया है ।

शिल्प संग्रहालय - कलाकारों और शिल्पियों ने भारत में अपनी कला को पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखने के अथक प्रयास किये । मिट्टी, लकड़ी, वस्त्र, टोकरी, वन आदि से लेकर धातु की बनी कलात्मक वस्तुएं शिल्प संग्रहालय की निधि है ।

राष्ट्रीय आधुनिक कला सग्रंहालय :

यहाँ 1857 के बाद बने चित्र और मूर्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं । यहाँ कुछ स्थायी तिथियाँ है कुछ समकालीन कला प्रदर्शन के लिए है ।

इस संग्रहालय में राजा रवि वर्मा, एम.एफ. प्रियावाला, नन्दलाल बसु आदि कई प्रसिद्ध भारतीय चित्रकारों के बनाये चित्र रखे गये हैं । रामकिंकर, वैंकटप्पा, असित कुमार हल्धर आदि का मूर्तिशिल्प भी प्रदर्शित है ।

राधाघाट स्थित गाँधी स्मारक सग्रंहालय - दो संग्रहालय और एक स्मारक, महात्मा गाँधी के जीवन की कहानी से जुड़े हुए हैं । राजघाट गाँधी स्मारक संग्राहलय में गाँधी जी के जीवन से सम्बन्धित सूचनाओं और चित्रों को प्रदर्शित किया गया है । यहाँ उनके पत्र, पुस्तकें आदि वस्तुएं रखी गई हैं ।

बिड़ला भवन में भी गाँधी स्मृति संग्रहालय हैं जहाँ उनकी हत्या हुई थी । यहाँ उनके द्वारा उपयोग में ली जाने वाली वस्तुओं का संग्रह है जैसे साधारण बिस्तर, चटाई, चर्खा, चश्मा आदि । इसी प्रकार तीनमूर्ति भवन संग्रहालय में पं. जवाहरलाल नेहरू से सम्बन्धित संग्रहालय हैं ।

वस्त्र संग्राहलय - यह अहमदाबाद में स्थित है । 1949 में स्थापित इस संग्राहलय में भारत के विभिन्न भागों में पाये जाने वाले वस्त्र प्रदर्शित हैं ।

बर्तन सग्रंहालय - अहमदाबाद में ही एक और अनूठा संग्रहालय है । यहाँ अद्भुत और अनूठी वस्तुओं का संग्रह है । यही सुरेन्द्र पटेल द्वारा भारतीय जीवन में उपयोग किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के बर्तन रखे गये हैं ।

सालारजग सग्रंहालय - हैदराबाद के निजामों का विभिन्न प्रकार की ऐसी अद्भुत वस्तुओं के संग्रह में रूचि थी जो लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र बने । उन्होंने विभिन्न प्रकार की घड़ियों आदि ऐसी वस्तुओं का यहाँ संग्रह किया जो आश्चर्यचकित करती हैं ।

इस प्रकार भारतीय स्मारक और संग्रहालय भारतीय सांस्कृतिक विरासत की कथा सुनाते हैं । जैसा कि बताया गया है कि अपार प्राचीन सम्पदा और विरासत तो विदेशी शासकों और स्मगलरों की लूट का शिकार हो गई । लेकिन जो स्मारक प्रकृति या अन्य आपदाओं से बच गये या जो सम्पदा लुटेरों के हाथ नहीं लगी, वह भी इतनी अधिक है कि वह हमारा परिचय अपनी संस्कृति से कराने में सक्षम है । भारतीय संस्कृति को सदियों से अपने सीने से लगाये संग्रहालयों में सुरक्षित हमारी सांस्कृतिक विरासत ही देशी-विदेशी सैनानियों और संस्कृति को जानने के इच्छुक लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र होती है । इसलिए संग्रहालय, हर पीढ़ी को अपनी अमूल्य निधि के संरक्षण एवं रख-रखाव की प्रेरणा देता है ।

साथ ही मकानों, दुर्गों, मंदिरों, छतरियों आदि विविध प्रकार के स्मारकों की स्थापत्य कला और उनसे जुड़े भारतीय इतिहास और संस्कृति की झलक देते हैं । यही कारण है कि पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र राजस्थान में राजपूत राजाओं के महल और दुर्ग, लद्दाख और हिमाचल प्रदेश के मठ या बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली में ब्रिटिश स्थापत्य आदि शिल्प की खूबियों के कारण होता है ।

12.6 जीवित संस्कृति और प्रदर्शनात्मक कलाऐं

इतिहास, संस्कृति और पर्यटन आदि एक दूसरे से परस्पर गहरा सम्बन्ध रखते हैं । जितना आवश्यक हो उतना इतिहास का उपयोग करने के साथ-साथ पर्यटकों के लिए जो रूचिकर हो उतना सांस्कृतिक पट देना जरूरी होता है

स्मारकों और संग्राहलयों में बसी सांस्कृतिक निधि के अलावा जीवन्त-संस्कृति और प्रदर्शनात्मक कलाएं भी अपने साथ सदियों से सांस्कृतिक परिवेश समेटे हुए है । भारतीय नगरों एवं ग्राम्य-जीवन के मनोरंजन,उत्सव एवं जीवन व्यवहार से अनेक कलाओं का गहरा नाता है । इसके अलावा कुछ कलाओं का सम्बन्ध विभिन्न अनुष्ठानों से है भारत में प्रदर्शनात्मक कला के विभिन्न रूप और शैलियाँ हैं । ये कलाएं भारत की जीवन्त कला और सर्जनात्मकता प्रवृतियाँ अभिव्यक्त होती है । सर्जनात्मकता भारतीय जीवन की धड़कन और स्पन्दन है । यही सर्जनात्मकता, यही स्पन्दन वस्तुत: संस्कृति है । विविध परम्पराओं मे व्यक्त यह सर्जनात्मकता कई रूपों में प्रगट होती है ।

12.6.1 भारत का सांस्कृतिक जीवन

मिथक, प्रतीक, संगीत, नृत्य आदि भारतीय सांस्कृतिक जीवन के अभिन्न अंग हैं । इनमें स्थानीयता और प्रादेशिकता का विशेष पुट होता है । लेकिन इनके अनुष्ठानों और मौन में एक अद्भुत साम्य है ।

भारतीय संस्कृति की एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रवृति यह है कि इसकी विविधता में समग्रता व्याप्त है । यहाँ की विभिन्न परम्पराएं एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करती चलती है

। कभी-कभी ये समानान्तर चलती है तो कभी आपस में मिल जाती हैं । इस प्रकार एक दूसरे के साथ या मिलन की लम्बी प्रक्रिया में इनका विकास हुआ है ।

इस क्रम में ग्रामीण एवं जनजातीय लोक परम्पराओं और शास्त्रीय परम्पराओं वे बीच एक सार्थक और अर्थपूर्ण संवाद भी निरन्तर जारी रहा है । भारतीय संस्कृति बुद्धिजीवियों के बीच पनपने के बजाय यह जन-जन के बीच लोक कलाओं के रूप में आगे बढी और आधुनिक प्रभावों के बावजूद इसकी अस्मिता निरन्तर इसी लोकजीवन में अपने मूल रूप को सुरक्षित रखने में सफल रही है ।

यही कारण है कि मेलों, त्यौहारों और उत्सवों पर अभिव्यक्त होने वाली उन्मुक्त लोक कलाएं पर्यटकों को लुभाती हैं । इनमें जीवन के शाश्वत मूल्य जीवन्त है जो आकर्षण का केन्द्र बनते है । यद्‌यपि इस दिशा में कुछ प्रयास हुए हैं लेकिन इनका पर्याप्त पोषण तो लोक जीवन में ही होता है । लोकजीवन से कटकर ये कलाएं श्वांस नहीं ले सकतीं ।

12.6.2 हस्तशिल्प

भारतीय हस्तशिल्प जीवित संस्कृति की प्राचीनतम परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है । भारतीय शिल्पियों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी भावनाओं को शिल्प के माध्यम से सर्जनात्मक अभिव्यक्ति की है । शिल्पियों ने अपनी मुलायम संवेदनाओं को कागज, वस्त्र, पत्थर, लकड़ी, धातु आदि पर बारीकी और 'कलात्मक ढंग से अंकित किया और उकेरा है । भारतीय शिल्प में भी भारतीय संस्कृति की विविधता की छाप है । उत्तर भारत में कश्मीर का हस्तशिल्प चाँदी के बर्तनों, कालीन, हाथीदाँत से बनी वस्तुओं, शॉल और पेपरमेशि में बोलता है तो पंजाब के काष्ठशिल्प और धातु के बर्तनों का सानी नहीं । हिमाचल के शॉल और काष्ठ शिल्प प्रसिद्ध है तो उत्तरप्रदेश में बेहतरीन जरी का काम, चाँदी, मिट्टी के बर्तन, काष्ठ शिल्प और कसीदाकारी होती है ।

पूर्वी भारत मे पश्चिम बंगाल अपनी मिट्टी की मूर्तियों काष्ठ शिल्प और कसीदाकारी की विशेषताएं लिए हुए हैं । उड़ीसा की कागज पर चित्रावली और काष्ठ शिल्प का अपना रंग और रूप है ।

मध्य भारत में मध्यप्रदेश का पत्थर शिल्प और कसीदाकारी तथा पश्चिम भारत में राजस्थान का पत्थर शिल्प, लकड़ी का काम, मिट्टी के बर्तनों आदि की अपनी पहचान है । दक्षिण भारत में आन्धप्रदेश का धातुकर्म, पत्थर शिल्प, कर्नाटक की हाथीदाँत की वस्तुओं, चमकदार मिट्टी के बर्तन, तमिलनाडु में चटाई निर्माण, कठपुतली, लकड़ी का काम और केरल में मुखौटा, लकड़ी का काम, टोकरी निर्माण आदि का जवाब नहीं । इस प्रकार भारतीय शिल्प भी उतना ही विविध, कलात्मक और मनमोहक है जितना यही का जनजीवन और इसी में जीवन्त एहसास और संस्कृति की लय और धड़कन है ।

12.6.3 वस्त्र निर्माण

भारत की सभ्यता और संस्कृति अति प्राचीन है और यह माना जाता है कि ई.पू दो हजार वर्ष से वस्त्र निर्माण परम्परा का आरम्भ हो गया था । वैदिक साहित्य में बुनाई के

सन्दर्भ मिलते हैं और उत्तर वैदिक काल के ग्रंथो में सूती वस्त्र निर्माण का उल्लेख मिलता है । यद्यपि अंग्रेजी शासन के भारत में आगमन के बाद भारतीय शिल्प और परम्परा को गहरा धक्का लगा और विशेषकर इंग्लैंड में मशीनीकरण एवं औद्योगिकीकरण से वहाँ के वस्त्रों और निर्मित उत्पाद, भारतीय हथकर्घा और हस्तशिल्प पर छाने लगे । लेकिन, इसके बावजूद इस वस्त्र निर्माण कला की जड़े भारतीय ग्राम्य एवं लोकजीवन की जडों में होने के कारण वस्त्र-निर्माण कला मृत नहीं हो पाई । वस्त्र उद्योग की विशेषताओं ने शिल्प का रूप धारण कर लिया और इराकी छाप आज भी अमिट है । समृद्ध भारतीय वस्त्र निर्माण कला और शिल्प की विधायें आज भी जीवन्त है ।

1. पटोला - पटोला मूलतः गुजरात में बनाया जाता है और इसमें दोहरा-इक्त रेशमी धागा प्रयोग में लिया जाता है । तैरहवीं सदी में यह एक निर्यातक वस्तु थी । पटोला शब्द संस्कृत के पट्टकुल अर्थात् रेशम के धागे से बना है । पटोला रेशमी साड़ी की डिजाईन स्पष्ट और स्थाई होती है ।

बुनाई के दौरान बुनाई और रंग को इस प्रकार समुचित व संयोजित किया जाता है कि एक आकर्षक डिजाईन उभरकर सामने आती है । इसकी बहिरेखा में एक क्षणिक अनियमितता होती है जिससे आग की लपट का एहसास प्रगट होता है और यही पटोला को विशेषता प्रदान करता है ।

एक समय था जबकि गुजरात में कई स्थानों जैसे अहमदाबाद, सूरत और पाटन में पटोला की बुनाई होती थी । अब असली पटोला केवल कुछ साल्वी परिवारों के द्वारा बनाया जाता है ।

2. जामदानी - जामदानी चित्रित मलमल है । यह परम्परागत रूप से ढाका, पश्चिम बंगाल, टांडा, फैजाबाद, उत्तरप्रदेश में बुना जाता था । जामदानी के सूती धागे में सूती और जरी धागे में जरी का काम किया जाता है । जामदानी साड़ी पश्चिम बंगाल में बनाई जाती हैं ।

3. कथा - कथा साड़ी का निर्माण पश्चिम बंगाल में होता है । इसमें कपड़े का पैबन्द लगाकर कसीदाकारी की जाती है । कथा साड़ी पर चिड़िया, पशु, पेड़ आदि के जीवन्त चित्र बनाये जाते हैं । आज भी इस प्रकार की साड़ियाँ बनाने का पश्चिम बंगाल में चलन है ।

4. बंधेज - बंधेज, राजस्थान में बनाई जाने वाली साड़ी है । जयपुर और जोधपुर बंधेज के काम के लिए प्रसिद्ध है । हिन्दु और मुसलमान सभी बंधेज के वस्त्र पहनते हैं ।

12.7 आनुष्ठानिक कलाएं

भारत की अधिकांश आनुष्ठानिक कलाएं घरेलू वातावरण में फली-फली है । ये वस्तुतः पारिवारिक उत्सव और प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है । आमतौर पर महिलाएं ही इन कलाओं को सजाती-सँवारती हैं । घर के फर्श और दीवारों पर फूल-पत्ती और बेल-बूँटे बनाती है । कहीं-कहीं ये रोजमर्रा की दिनचर्या होती है जैसे दक्षिण भारत का ‘कोलम’ और कहीं-कहीं ये उत्सवों पर बनाई जाती हैं । यह परम्परा किसी न किसी रूप में पूरे भारत मे निभाई जाती है । इस प्रकार की कलाएं राजस्थान में ‘माड़णा’ गुजरात और महाराष्ट्र में ‘रंगोली’ सौराष्ट्र में 'साध्य' बिहार में 'अरिपन' या ‘अयपन’, कुमाऊँवें 'अइपन', बंगाल में 'अल्पना, उड़ीसा में

'झुटी', दक्षिण भारत और उत्तर प्रदेश में 'चौकपूरना या चौकरंगना आदि नामों से पुकारा जाता है ।

आनुष्ठानिक कला की विरासत हमारे यहां सदियों से चली आ रही है । इस प्रकार के अंकन में कोई आकृति, छवि या कथा नहीं होती । इनमें प्रतीकों और मिथकों का प्रयोग होता है । राजस्थान में मांड़णों का अंकन किया जाता है । चावल के आटे को भी विभिन्न रंगों में रंगकर यह चित्रांकन किया जाता है । बिहार में मधुबनी चित्रशैली की अपनी पहचान है । यह चित्रकारी, मंगलकारी मानी जाती है ।

12.8 प्रदर्शनात्मक कलाएं

भारत की प्रदर्शनात्मक कलाओं का इतिहास पुराना है । नृत्य, संगीत और रंगमंच की समृद्ध परम्परा विरासत में मिली है । प्रदर्शनात्मक कलाओं की आसान परिभाषा यह हो सकती है कि इस कला का अस्तित्व इसके प्रदर्शन में निहित होता है । संगीत, नृत्य, रंगमंचीय कला या नाट्य की रंगमंच पर श्रोता और दर्शकों के समक्ष प्रस्तुति या किसी भी कला का प्रदर्शन ही प्रदर्शनात्मक कलाओं का प्राण है । यह सार्थक और प्रभावोत्पादक कला का माध्यम है । प्रदर्शनात्मक कलाओं की यह विशेषता है कि इसमें कलाकार और दर्शक के बीच एकात्म होता है । ये हमारे अनुभव और अनुभूतियों को छूती है ।

भारत की प्रदर्शनात्मक कलाओं के उद्गम स्थल धर्म स्थल रहे हैं । इसलिए धर्म से इनका गहरा नाता रहा है । प्रदर्शनात्मक कला-परम्परा में धर्म और संस्कृति एक दूसरे से मिले हुए हैं । ये कला-परम्पराएं सदियों से अविछिन्न रूप में प्रवाहित होती रही हैं और ये हमारी सांस्कृतिक विरासत की शक्ति हैं ।

12.8.1 नृत्य

भारतीय मिथक के अनुसार नृत्य का जन्म, शिव के तांड़व-नृत्य से हुआ है । भारतीय शास्त्रीय नृत्य हमारे लोक नृत्यों की जड़ों से पनपे हैं । ये शास्त्रीय-नृत्य कुछ आधारभूत सिद्धान्तों पर आधारित है । इनमें चेहरे के हावभाव, मौलिक अभिव्यक्ति, हस्त-मुद्रा (अंजली), वेशभूषा और आभूषण प्रमुख स्थान रखते हैं । इनमें प्रमुख शास्त्रीय नृत्य इस प्रकार है

1. भारत- नाट्यम - यह तमिलनाडु का नृत्य है । तंजावुर और कांचिपुरम इसके केन्द्र हैं । पुरूष और स्त्री इसे एकल रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

2. ओड़िसी - यह उड़ीसा का नृत्य है । पूरी और भूवनेश्वर इसके केन्द्र हैं । यह एकल नृत्य है ।

3. कथक - यह उत्तरप्रदेश और राजस्थान का प्रमुख शास्त्रीय नृत्य है । लखनऊ, मथुरा वृन्दावन और जयपुर इसके केन्द्र हैं । पुरूष और स्त्री इसे एकल रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

4. कथकली - यह केरल का नृत्य है जिसे मंदिरों में प्रदर्शित किया जाता है । श्रृंगार करके पुरूष इसे प्रस्तुत करते हैं । इसमें चेहरे के हाव-भाव पर बल दिया जाता है ।

5. कुचिपुड़ी - आन्ध्र प्रदेश का यह नृत्य कुचिपुड़ी शहर के आसपास विकसित हुआ है । यह नृत्य-नाट्य है जिसमें पुरूष भाग लेते हैं ।

6. मणिपुरी - यह मणिपुर का नृत्य है । इसे पुरूष और महिलाएं मिलकर प्रस्तुत करते हैं । इसमें राधा-कृष्ण के जीवन को आधार बनाकर नृत्य-नाटिका प्रस्तुत की जाती है ।

7. भागंडा - यह पंजाब का प्रमुख नृत्य है । इस नृत्य में पुरूष और महिलाएं रंग-बिरंगे परम्परागत वस्त्र पहनकर नृत्य करते हैं । नर्तकों के उत्साह और प्रसंग को बढ़ाने के लिए ढोल बजाये जाते हैं ।

8. गरबा - यह गुजरात का लोकप्रिय नृत्य है । इरामें पुरूष और महिलाएं दोनों शामिल होते हैं और यह नृत्य नवरात्रि के अवसर पर नौ रातों तक किया जाता है । इस नृत्य के दौरान देवी दुर्गा के सम्मान में गीत गाये जाते हैं और संगीत की धुनों के साथ यह गोल चक्कर में डंडियों के साथ किया जाता है ।

12.8.2 संगीत

भारतीय संस्कृति में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है । ऐसा माना जाता है कि इसके माध्यम से ईश्वर से संवाद स्थापित किया जा सकता है । संगीत हमारी परम्परा का अभिन्न अंग है । संगीत, लोक-परम्परा से निकलकर शास्त्रीय बनता है । भारत के बाद में इसकी दो शाखाएं कर्नाटक और हिन्दुस्तानी शैली मानी गई । कर्नाटक संगीत नियमबद्ध है जबकि उत्तर भारत में फैले हिन्दुस्तानी संगीत में फैलाव और खुलापन है ।

शास्त्रीय संगीत अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है । जिसके कई घराने हैं -

1. मेहर - उस्ताद अलाउद्दीन खाँ ने इसकी स्थापना की । इस घराने के प्रमुख संगीत कलाकार उस्ताद अली अकबर खाँ, पंडित रविशंकर स्व. पंडित निखिल बेनर्जी आदि हैं ।

2. किराना - इसे सवाई गंधर्व ने स्थापित किया । पंडित भीमसेन जोशी, गंगूबाई हंगल, पं. जितेन्द्र अभिषेक आदि इसके प्रमुख गायक हैं ।

3. पटियाला - उस्ताद चाँद खाँ द्वारा स्थापित इस घराने के प्रमुख कलाकार स्व. उस्ताद बड़े गुलाम अली खाँ, उस्ताद मुमव्वर खॉ थे ।

4. अंतरोली - उस्ताद फैयाज खाँ द्वारा स्थापित इस घराने के गायकों में स्व. उस्ताद शराफत हुसैन खाँ, उस्ताद मोहम्मद शफी हैं ।

5. गायन - श्रीमती एम.एस. सुब्बालक्ष्मी, एम. बाला मुरली कृष्ण, स्व.महाराज कुमार संघानम इसके प्रमुख कलाकार हैं ।

6. वादन - श्रीमती एन.राजम् (वायलिन), स्व.एस. बालचंदर (वीणा), स्व. टी. महालिंघम (बाँसुरी) वादक कलाकार थे ।

12.8.3 रंगमंच

भारतीय रंगमंच में लय, सर्जनात्मक कल्पना और सौन्दर्य का अद्भुत सामंजस्य है ।

भारतीय रंगमंच प्राचीनकाल से ही यहाँ की संस्कृति और जीवन का अभिन्न हिस्सा रहा है । भारतीय रंगमंच का आरम्भ धार्मिक, सामाजिक और अनुष्ठानिक उत्सवों से माना जाता है और धीरे-धीरे यह एक कला के रूप में विकसित हो गया । पिछले दो-तीन हजार सालों में रंगमच कलाओं में अनेक बदलाव आते रहे हैं । 19वीं सदी में पश्चिम के साथ सम्पर्कों के कारण भारतीय रगमंच मे कई परिवर्तन आये । अपने स्व-आधार को छोड़कर रंगमंचीय कलाकारों में पश्चिमी नाटकों और शैली की ओर झुकाव बढ़ा । स्वतन्त्रता के बाद की चिन्ताऐं अलग थी । सात के दशक में राष्ट्रीय रंगमंच आन्दोलन का जन्म हुआ । टूटते परिवार, नया राजनैतिक दृष्टिकोण, शहरी मध्यम वर्ग का मोह भंग, आदि नाटक के नये विषय बने ।

आधुनिक जीवनशैली से संबंधित कुछ नाटक जैसे मोहन राकेश का आधे-अधूरे, बादल सरकार का एवम् इन्द्रजीत, पागल घोड़ा, गिरीश कर्नाड का तुगलक, विजय तेंदुलकर का सरवाराम बाइंडर आदि लोकप्रिय हुए ।

साथ ही नाट्य-क्षेत्र मे अनेक प्रयोग भी किये गये हैं । संस्कृत एवं मध्यकालीन नाटकों को आधुनिक परिवेश में ढालने के प्रयास भी हुए हैं । नुक्कड़ नाटक भी लोकप्रिय हुए हैं । लेकिन नई धाराओं का कोई निश्चित स्वरूप तय नहीं हो पाया है ।

पर्यटन विकास की समस्या-

पारिस्थितिकीय पर्यटन हो या सांस्कृतिक पर्यटन विकास प्रक्रिया के साथ कुछ समस्याऐं भी जुड़ी हैं । किसी भी स्थान पर पर्यटन के विकास से कई प्रकार की व्यावसायिक गतिविधियों में वृद्धि होती है । इससे महंगाई बढ़ने और श्रमिकों की मजदूरी बढ़ने का अंदेशा रहता है । स्थानीय जीवन का परम्परागत ढाँचा भी इससे प्रभावित होता है और लोगों को रहन-सहन एवं व्यवहार में भी परिवर्तन होते हैं । पर्यटन से एक प्रकार का कम पारितोषिक वाला रोजगार बढ़ता है जिससे पर्यटन का मौसम न होने पर परेशानियाँ पैदा होती है ।

कई पर्यटन क्षेत्रों में यह भी देखने मे आया है कि कुछ वर्षों तक तो पर्यटन को प्रोत्साहन देने से लोगों को रोजगार का एक विकल्प मिल जाता है और हस्तशिल्प, होटल, यातायात व्यवसाय को भी बढ़ावा मिलता है और नकारात्मक प्रभाव कम नजर आते हैं । पर्यटक आते हैं । कुछ समय रूकते हैं, स्थान विशेष के सांस्कृतिक स्मारकों, इमारतों आदि के छायाचित्र लेते है और चले जाते हैं । वे अपने पीछे मात्र अपने पदचिन्ह और फिल्मों के रेपर छोड़ जाते हैं । इरा कारण पर्यटन को लोग बहुत गम्भीरता से नहीं लेते और आम लोगों को प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं होता । इस कारण पर्यटकों के स्वागत अतिथि देवो भव या पधारो म्हारे देश, जैसे नारे सार्थक नहीं लगते । लेकिन पर्यटन विकास के अप्रत्यक्ष फायदों से इन्कार नहीं किया जा सकता । साथ ही यह भी सच है कि पर्यटन के कारण कई दर्शनीय या सांस्कृतिक महत्त्व के स्थल जो उदासीनता के कोहरे में खोते रहते हैं उन्हें उजाला मिलता है और वे प्रकाश में आते हैं । उनके महत्व से लोग जागरूक होने लगते हैं आमतौर से जनभावनाएं, पर्यटन से इसलिए भी नही जुड़ पाती क्योंकि अधिकांश लोगों का उनसे कोई सीधा सम्पर्क या सरोकार नहीं होता ।

इस विश्लेषण से यह तो स्पष्ट है कि विकास चाहे पर्यटन का है या कोई और, अपने साथ सकारात्मक पहलुओं के साथ नकारात्मक प्रभाव भी लेकर आता है । इसलिए यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि पर्यटन एक उद्योग है ।

जिस प्रकार उद्योग जहाँ उत्पादन एवं रोजगार के साधन मुहैया कराते हैं, वहीं अपने साथ कई प्रकार की समस्याएं भी लेकर आते हैं । अत: पर्यटन के कई लाभ और कई नुकसान हैं ।

अत: पर्यटन विकास को दिशा देते समय यह सावधानी बरतनी आवश्यक है कि यह विकास सन्तुलित हो और इसका प्रबंधन सचेत होकर किया जाना चाहिए ताकि नकारात्मक प्रभाव कम से कम हो और इससे सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से लाभ अधिक हो ।

पर्यटन के विकास की प्रक्रिया से मानवीय तत्त्व अर्थात् मानव शक्ति और पर्यावरणीय तत्व जुड़े रहते हैं । अत: पर्यटन को बढ़ावा देते समय सामाजिक प्रभावों एवं पर्यावरणीय प्रभावों को सदैव उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए ।

12.9 सारांश

इस प्रकार संस्कृति का अर्थ है कि यह एक जीवन पद्धति है । जीने की शैली और तरीका है । मनुष्य अपने जीवन को सरस और जीवन्त बनाने के लिए अपने को परिष्कृत करता है और विभिन्न रूपों और आकारों में अपने को अभिव्यक्ति देता है । मनुष्य की यही सौन्दर्य और संवेदनाओं से पूर्ण अभिव्यक्ति संस्कृति है ।

यदि किसी देश या जाति या नस्ल की सभ्यता और संस्कृति के दर्शन करने हैं और उसे समझना है तो उसके लोकजीवन, जनजीवन, उसके स्मारक और स्थापत्य, उसकी मूर्तिकला, संग्रहालयों, साहित्य, चित्राकला, नृत्य, नाटक, हस्तशिल्प संगीत आदि विभिन्न पहलुओं के साथ उसकी मान्यताऐं, किवदतियाँ, दंतकथाओं, धार्मिक आस्थाओं, देवालयों आदि के विस्तृत फलक पर दृष्टि डालनी होगी ।

ये सब विविध पक्ष, विविध रंग और जीवन की धड़कन आदि जो धारा प्रवाहित करेंगे, वहाँ उस देश विशेष की संस्कृति के विराट स्वरूप के दर्शन करने सम्भव होंगे ।

दरअसल, संस्कृति कोई अमूर्त या असक्रिय वस्तु या निर्जीव चीज नहीं है । यह तो निरन्तर प्रवाहित एक जीवन्त-चेतना है । जीने का तौर-तरीका है और संस्कृति से ही किसी देश की उन्नत स्थिति का ज्ञान होता है ।

मनुष्य की यह जानने की प्रवृति रहती है कि विगत की लम्बी-यात्रा में इतिहास के धुंधलके में कब और कही मानव की श्रेष्ठता का विकास किस प्रकार हुआ । इसलिए मनुष्य के विकास की कहानी के विगत के सूत्र ढूँढने की कोशिश में प्रकृति के प्रकोपों से धरती के भीतर समाये उन अवशेषों की पुरातात्विक खुदाई का कार्य निरन्तर चलता आ रहा है । साथ ही उसके प्राचीनकाल से अनुवांशिक सूत्रों को भी समेटने के प्रयास किये गये हैं । मानव का जीवन अनेक ऐसी ही बातों के समन्वित रूप में प्रगट होता है । इसलिए संस्कृति भी विभिन्न पक्षों का मिला-जुला स्वरूप है ।

भारतीय सांस्कृतिक वैभव की कहानी का प्रारम्भिक बिन्दु वेदों से शुरू करें तो यह कथा-मोहनजोदडो के उन्नत काल से आगे बढ़ती आ रही हैं । सांस्कृतिक विरासत के दर्शन न केवल भारतीय संगीत के स्वरों, नृत्यकला की झंकार, मौन खड़े अतीत के गवाह बने स्मारकों आदि में ही होना सम्भव है बल्कि इसकी अभिव्यक्ति भारतीय प्राचीन महाग्रंथों, रीति-रिवाजों आदि में भी समान रूप से होती है । यह एक समन्वित और सामंजस्यपूर्ण विभिन्न तत्त्वों से सृजित ऐसी संस्कृति है जिसमें जीवन की महक और स्पन्दन है । इस विराट आकृति की जड़ें दृढ़ता के साथ हमारे सम्पूर्ण जीवन दर्शन और जीवनशैली में समाहित है । संस्कृति के संस्कारों को हमारे ऋषि-मुनियों और मनीषियों ने हमारे जीवन के रंगमंच में विविध धागों से गूंथ दिया है ।

संस्कृति के आधारभूत रहस्यों को समझने के लिए वैदिक साहित्य को समझा जा सकता है । जहाँ इसमें संहिताएं मन्त्रों, प्रार्थनाओं और अर्चनाओं का संग्रह है तो ब्राह्मण ग्रंथ, धार्मिक अनुष्ठानों की विविध प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालते हैं । इनमें घटनाऐं और आख्यान है जिनका प्रतीकात्मक महत्त्व है । उपनिषद भी वैदिक साहित्य का अभिन्न अंग हैं जो सरल और कथात्मक रूप से वेदों को समझने की कुंजी है । इसके बाद भारतीय महाग्रंथ रामायण और महाभारत के साथ 18 पुराण हैं ।

भारतीय दर्शन का मूल-मन्त्र भी मनुष्य को अपने आपको समझने की ओर प्रेरित करता है । भारतीय दर्शन के दो मूल स्रोत हैं । एक उपनिषदों की 'आत्मा का सिद्धान्त और दूसरा बुद्ध का अन्तात्मा का सिद्धान्त ।

इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन और सांस्कृतिक विरासत को समझने में सदियों से चली आ रही शास्त्रीय कलायें और अन्य प्रमाण हमारी सहायता करते हैं और इस विरासत की गहराईयों में जाने में धर्म दर्शन और वैदिक साहित्य हमारी मदद करते हैं । सांस्कृतिक विरासत को समझना बहुत सरल है क्योंकि यह हमारे जीवन में बसी हुई है और हमारी परम्पराओं, त्यौहारों और उत्सवों, रीति-रिवाजों आदि में प्रगट होती है । लेकिन इसकी तह में जाना है तो प्राचीन साहित्य में झांकना होगा ।

12.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अदिति, द लीविंग आर्टस ऑफ इण्डिया, फ़ेस्टिवल ऑफ इन्डिया इन अमेरिका, 1985-86 वाशिंगटन ।
2. आस्पेक्टस् ऑफ द परफार्मिंग आर्टस ऑफ इन्डिया, सम्पादन सरयू दोशी, मार्ग प्रकाशन, 1993
3. ए.एल. बाशम द वन्डर दैज वाज इन्डिया, रूपा. 1990
4. बी.डी. मिश्र दी फोर्टस एण्ड फोर्टरेस ऑफ ग्वालियर एण्ड इटस हिटरलैंड, नई दिल्ली 1993
5. जॉन एल. एर्डमैन (संपादक) आर्टस पैट्रोनेज इन इन्डिया, मेथड्ज, मोटिवज एण्ड मार्केटस, नई दिल्ली 1992
6. एच.एच. विलसन, संपादक, दी थियेटर ऑफ द हिन्दूज, कलकता 1955

7. जे.सी. हार्ले - दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ दी इण्डियन सबकान्टिनेन्ट पैंग्विन 1986
8. नेमीचन्द जैन, भारतीय रंगमंच, नई दिल्ली ।
9. राबर्ट बेयर्ड (संपादन) रीलिजन इन मॉडर्न इन्डिया, नई दिल्ली 1994
10. शोमिता पंजा, मूजियम्स इन इन्डिया, हौंगकांग 1996
11. उत्पल के बनर्जी, द परफार्मिंग आर्टस, नई दिल्ली 1992

12.11 कुछ अभ्यास प्रश्न

1. अपने शहर का भ्रमण करके सौ साल से पुरानी इमारतों जैसे मंदिर और मस्जिदों की सूची बनाइये ।
2. सराय, बावड़ी या सेतुओं की सूचि बनाइये, अपने शहर या गाँव की ।
3. किसी एक प्रदर्शनात्मक कला पर टिप्पणी लिखिए ।
4. संग्रहालयों का सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व प्रतिपादित कीजिए ।
5. भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं? वर्णन कीजिए ।

इकाई - 13 : भारत की रूपरेखा

रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 आश्रम व्यवस्था

13.2.1 आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति

13.2.2 आश्रमों का विभाजन -

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
2. गृहस्थ आश्रम
3. वानप्रस्थ आश्रम
4. सन्यास आश्रम

13.2.3 आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त

13.2.4 आश्रम व्यवस्था का सामाजिक महत्व

13.3 भारत की जातिप्रथा

13.3.1 जाति का अर्थ

13.3.2 जाति व्यवस्था की प्रकृति

13.4 जाति व्यवस्था से हानियाँ

13.5 जाति व्यवस्था में आये परिवर्तन

13.6 सारांश

13.7 कुछ उपयोगी प्रश्न

13.8 अभ्यास प्रश्न

13.0 उद्देश्य

भारत की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध है । यह एक ऐसी संगठित संस्कृति है जिसकी संरचना अत्यन्त वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित है । बाहरी रूप में देखें तो यह प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति, विभिन्नताओं से पूर्ण है । इसमें अनेक भाषायें, अनेक प्रकार की वेशभूषाएं, तरह-तरह के त्यौहार, विभिन्नता लिए रीति-रिवाज आदि के दर्शन होते हैं और ऊपरी तौर पर देखें तो लगता है कि यह संस्कृति, अलग-अलग समुदायों, जातियों और धर्मों में न बंधी होकर एक है । लेकिन वास्तविकता इससे भिन्न है । बाहरी रूप में हर कोई अपने-अपने समुदाय में स्वतन्त्र है । कोई बंधन नहीं है । चाहे जो पूजा पद्धति हो और चाहे जो मान्यताएं हों । लेकिन भीतर से एक दूसरे के तार जुड़े हुए हैं । इसलिए कहा गया है कि भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता, इसकी विविधता में व्याप्त एकता है । इसलिए यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई है कि भारत में विभिन्न परम्पराओं, जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं, प्रथाओं की भिन्न-भिन्न व्यवस्था है ।

इसलिए इस इकाई में आप भारतीय जनजीवन की प्राचीन काल से चली आ रही जातिप्रथा या आश्रम व्यवस्था, आदि के पीछे छिपी भावनाओं और संगठनात्मक संरचना को समझ सकेंगे और भारतीय जीवन शैली के बारे में फैली भ्रामिक धारणाओं को सुझलाने में सक्षम हो सकेंगे । साथ ही इकाई का यह लक्ष्य भी है कि इसे पढ़कर आप भारतीय समाज और संस्कृति में आन्तरिक एकता के मूलभूत सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में भी समर्थ हो सकें ।

पर्यटन से सम्बन्धित हर व्यक्ति को जहाँ स्कूल रूप में दृष्टिगोचर होने वाले स्मारकों, कला परम्पराओं आदि के साथ जनजीवन के विविध पक्षों की जानकारी भी आवश्यक होती है इसलिए भारतीय समाज की वर्तमान संरचना के पीछे सामाजिक संरचना की लम्बी परम्परा से आपका परिचय कराने की दृष्टि से इस इकाई की रचना करने का प्रयास किया गया है ।

13.1 प्रस्तावना

आप भलीभांति जानते हैं कि दुनिया की अनेक प्राचीन संस्कृतियॉ और समाज व्यवस्थाएं समय के साथ अपने मूल स्वरूप और संस्कृति का संरक्षण नहीं कर सकी । वे छिन्न-भिन्न हो गई । अब उनके अवशेष मात्र रह गये हैं । इनमें यूनान, मिश्र, रोम आदि प्राचीन संस्कृतियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं । लेकिन आप उन विशेषताओं को अवश्य समझना चाहेंगे जिनके कारण भारतीय समाज में समय के साथ अनेक बदलाव आने के बावजूद, इसमें अपनी प्राचीन जड़ों को सुरक्षित रखा है । अनेक भिन्न-भिन्न रूप धारण करने के बाद भी भारतीय संस्कृति सदियों से कायम है और इसका प्राचीन गौरव बरकरार है । समय के आघात इसे नष्ट नहीं कर पाये । इसके कारण भी आप जानने के इच्छुक होंगे । आपको विदित ही है कि आज भी हम प्राचीन वैदिक धर्म की अनुपालना करते है । पवित्र वैदिक ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ और हवन की परम्पराएं जीवित हैं । आज भी वैदिक-मंत्रों की अनुगूंज सुनाई देती है । विवाह, जन्म आदि विभिन्न 16 संस्कारों की हमारे जीवन में पूरी तरह पैठ है । आज भी जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, ग्राम पंचायत व्यवस्था आदि प्राचीन काल से चली आ रही व्यवस्थाऐं कायम हैं भले ही उनके बाहरी रूपों में कई परिवर्तन हुए हैं । आज भी गीता के श्लोक, बुद्ध और महावीर के उपदेश ताजा हैं ।

सदियाँ बीत गई । इस लम्बे दौर में अनेक आक्रमण हुए, हमारे समाज को बाँटने, हमारी मूल आस्थाओं, परम्पराओं आदि को तोड़ने और भारतीय सामाजिक संरचना को नष्ट करने के अनेक विदेशी ताकतों ने प्रयास किये । कई सालों तक भारत पर विदेशियों ने शासन किया । कई अत्याचार किये । शोषण किया । लूटपाट की और हमारे सांस्कृतिक स्तम्भों को तोड़ने और नष्ट करने के प्रयास हुए । मुस्लिम, हूण, इसाई आदि कई विदेशियों ने भारत पर राज किया लेकिन वे भारत के दिलों पर शासन करने में सफल नहीं हो सके । वे भारतीय समाज की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना और संगठन के सदियों से प्रज्जवलित दीपक की लौ को बुझा नहीं पाये । आज भी भारत का प्राचीन गौरव और अतीत जीवन्त है ।

शायर का यह कथन समझे कि "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।" यही कुछ बात और बातें हमारी समाज रचना का आधार है ।

इस इकाई में भारतीय समाज की आश्रम व्यवस्था और जातिप्रथा के मूल का विस्तार से अध्ययन करने का प्रयास करेंगे । इस इकाई में हम उस समन्वय की महान् शक्ति का भी अनुभव कर सकेंगे जो विभिन्न जातियों धर्मो और सम्प्रदायों को उसी तरह अपने में समाहित किये हुए है जैसे नदियों को सागर अपने में विलिन कर लेता है । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति और समाज रचना मे अनेक प्रकार के सांस्कृतिक धागों का अनुपम समन्वय है ।

13.2 आश्रम व्यवस्था

भारतीय जीवन में एक सन्तुलन की व्यवस्था की गई है । जहाँ पश्चिम की जीवनशैली का आधार भौतिकवाद या भौतिक सुख और आनन्द रहा है वहीं भारतीय जीवन को न तो केवल आध्यात्म पर पूर्णत: आधारित करके निरस बनाया गया है और न ही इसे केवल भौतिक सुखों की ओर उज़ख किया गया है । धर्म का अर्थ भारत में सीधा-साधा यह है कि जो कुछ धारण करने या ग्रहण करने योग्य है, वह धर्म है । यह वह त्याग है जो दूसरों के परमार्थ और कल्याण की भावना से प्रेरित है । इसमें वस्तुओं के उपभोग या भोग को त्याज्य नहीं माना गया है लेकिन त्याग मय भोग पर बल दिया गया है । भोग के साथ संयम और त्याग को संलग्न करके मनुष्य के जीवन में एक सन्तुलन पैदा करने का प्रयास किया गया है ।

इसी विचार के साथ भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आश्रम व्यवस्था को मूल आधार के रूप में प्रारम्भ किया गया था । यह एक सुविचारित एवं सुनियोजित व्यवस्था है जो दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । मनुष्य के पूरे जीवन काल को आश्रम व्यवस्था में बाँटा गया है ।

मनुष्य की जीवन यात्रा बाल्यकाल से आरम्भ होती है । वह अपना जीवन शिक्षा ग्रहण करने और ज्ञान प्राप्त करने के साथ आरम्भ करता है । उसके बाद गृहस्थ जीवन शुरू करता है । फिर, जीवन का ढलान शुरू हो जाता है और व्यक्ति का सांसारिक सुखों से चिन्तन हटकर अपने को समझने और जीवन की सार्थकता ढूँढने में लगने लगता है । जीवन का अन्तिम पड़ाव, एक प्रकार से गहस्थ सन्यासी जैसा होने लगता है ।

आयु के विभिन्न पड़ावो की विभिन्न आवश्यकताएं होती हैं और हर पड़ाव पर व्यक्ति की सोच और आचरण समयानुसार उचित हो ताकि वह जीवन की सार्थकता अनुभव कर सके । इसी प्रकार की धारणा के साथ आश्रम-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ ।

13.2.0 आश्रम व्यवस्था का अर्थ

शाब्दिक अर्थ में तो लगता है कि आश्रम का तात्पर्य ऐसे स्थान से हैं जहाँ विश्राम किया जा सके लेकिन वास्तव में इसका अर्थ ऐसे कार्यस्थल से है जहाँ ठहरकर व्यक्ति कुछ उद्यम या प्रयास करके अपने को किसी ऐसी विद्या में तैयार करे या प्रशिक्षित करे जो उसकी भावी यात्रा को सुगम बना सके ।

वैसे कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि भारतीय दर्शन में जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति माना गया है और इस यात्रा के विभिन्न पड़ावों को विश्राम स्थल माना जा सकता है । अर्थात् वो पड़ाव जहाँ ठहरकर अपने अगले पड़ाव तक के लिए तैयारी कर सके । यो भी कह सकते है कि आश्रम, दरअसल, जीवन की अवस्था है या आयु का एक भाग है जहाँ कुछ समय ठहरकर या रहकर व्यक्ति कुछ विकास कर सके और अपने को प्रशिक्षित कर सके ।

महाभारत में व्यास जी का कहना है कि भारतीय जीवन दर्शन में चार आश्रमों का मतलब है चार विश्राम स्थल या विकास की चार सीढ़ियाँ । भारतीय जीवन में समाज की सम्पूर्ण संरचना के पीछे एक सुविचारित चिन्तन एवं सिद्धान्त रहा है । आश्रम-व्यवस्था के पीछे पुरूषार्थ का सिद्धान्त माना गया है और जीवन में चार प्रमुख पुरूषार्थ माने गये : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

पुरूषार्थ के इन चारों दायित्वों को व्यक्ति तभी निभा सकता है जबकि वह अपना शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास करते हुए अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करें । अत: आश्रम-व्यवस्था की भारतीय मनीषियों ने इसी सन्दर्भ में रचना की, ताकि व्यक्ति विभिन्न आश्रमों मे रहते हुए अपना सम्पूर्ण विकास करके जीवन का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने में सफल हो सके । आश्रम-व्यवस्था इस प्रकार जीवन की एक क्रमबद्ध ऐसी व्यवस्था बनाई गई जो जीवन को अर्थपूर्ण एवं उत्तम बनाये ।

13.2.1 आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति

आश्रम-व्यवस्था के प्रारम्भ के निश्चित काल के बारे में तो विशेष प्रमाण नहीं मिलते किन्तु यह माना जाता है कि जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए चिन्तन का प्रारम्भ वैदिक काल में हो गया था । उस समय आश्रम-व्यवस्था का वैचारिक धरातल ही शुरू हुआ लेकिन उत्तर वैदिक काल और उपनिषद् काल में तीन आश्रमों का विवरण मिलता है । उस समय गृहस्थ और वानप्रस्थ के बाद ब्रह्मचर्य आश्रम को जीवन का आखिरी आश्रम माना गया था । मनुस्मृति में भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है । जाबालि मनुस्मृति में पहली बार चार आश्रमों का सिलसिलेवार वर्णन किया गया है ।

13.2.2 आश्रमों का विभाजन

भारतीय चिन्तकों ने मनुष्य की आयु को कम से कम 100 वर्ष माना है और बुजुर्गों के आशीर्वाद में भी शतायु होने की कामना की जाती है । आयु को चार भागों अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम में बाँटा गया है और हर आश्रम की आयु 25 वर्ष मानी गई है ।

प्राचीन आश्रम व्यवस्था में -

1. **ब्रह्मचर्य आश्रम** - ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी ऋषि-मुनियों के आश्रमों में रहकर विद्या प्राप्त करते थे। गुरू-शिष्य की यह परम्परा जीवन को ठोस आधार और विद्यार्थी के शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के साथ सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की पहली सीढ़ी थी ।
2. **गृहस्थ आश्रम** - गृहस्थ आश्रम में विद्या प्राप्ति के बाद व्यक्ति के विवाह एवं गृहस्थ जीवन के दायित्वों को निभाने तथा अर्थ, काम के साथ अपने धर्म के पालन में प्रवृत होने की व्यवस्था की गई थी ।

3. वानप्रस्थ आश्रम - गृहस्थ जीवन के दायित्वों की पूर्ति के बाद सांसारिक भोग और सुखों के मोह त्याग की प्रक्रिया शुरू करने के लिए व्यक्ति के वनों में निवास एवं तपस्या की ओर उन्मुख होने की अवस्था मानी जाती थी ।

4. सन्यास आश्रम - इस प्रकार जीवन क्रम में चौथा आश्रम सन्यास आश्रम माना गया है जबकि व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं का त्याग करके अपने को संसार के बंधनों से मुक्त होने तथा मोक्ष प्राप्ति के प्रयास में प्रवृत्त कर सके ।

यद्यपि कुछ विद्वान तीन आश्रमों की व्यवस्था को अच्छा मानते हैं । उनका मत है कि सन्यास आश्रम तो सब आश्रमों से ऊपर है ।

सन्यास आश्रम को इसलिए भी अलग से देखने का विचार चला क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति पूर्णत: सामाजिक संरचना से कट जाता है । भिक्षा मांगकर जीवन यापन करने के साथ-साथ सम्पूर्ण सांसारिक सम्पत्ति और सुखों से मुक्त हो जाता है । सन्यासी का कोई पारिवारिक रिश्ता नहीं रहता है । समाज व्यवस्था से पूरी तरह अलग हो जाता है ।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम - अर्थ की दृष्टि में इन विभिन्न आश्रमों की पूरी व्यवस्था एवं अर्थ को भी स्पष्ट किया गया है । गुरू के घर पर रहकर विद्यार्थी वहाँ जंगल में लकड़ी लाने, पशुओं की देखभाल करने आदि विभिन्न कार्यों एवं सेवा के साथ विद्यार्जन का महान कार्य करते थे । विद्यार्थी की सूर्योदय के समय उठने से लेकर शयन तक की सम्पूर्ण दिनचर्या नियमित एवं व्यवस्थित थी और उस पर गुरू का निरीक्षण रहता था । शौच (पवित्रता), स्वाधयाय ईश्वर आराधना, तप आदि नियमों के पालन के द्वारा विद्यार्थी के शारीरिक और बौद्धिक बल को बढ़ाया जाता था । आश्रम में विद्यार्थी को शस्त्र-शिक्षा भी दी जाती थी । नियमों के साथ नियमों का पालन करना होता था जिनमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह शामिल थे ।

इस प्रकार यह आश्रम, विद्यार्थी के व्यक्तितत्व निर्माण एवं विकास को दिशा देने वाला माना गया है । विद्यार्थी की बौद्धिक कुशलता बढ़ाने एवं उसे संयमित एवं अनुशासन से पूर्ण जीवन बिताने के लिए कुशल बनाया जाता था ।

प्राचीन मनीषियों ने पूर्ण अध्ययन मनन के साथ मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के यथार्थ को जानकर यह उचित समझा कि विद्यार्थी ब्रह्मचर्य एवं संयम का पालन करके बलिष्ठ एवं ऊर्जावान बन सकता है और अपने भीतर ज्ञान की ज्योति प्रज्जलित कर सकता है जो उसके भावी जीवन को प्रकाशित करे । उच्च चरित्र एवं नैतिक जीवन को दिशा प्रदान करना, ब्रह्मचर्य आश्रम का लक्ष्य था ।

मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि किशोरावस्था या जीवन के प्रारम्भिक 25 वर्ष तक का समय अत्यन्त नाजुक होता है । यही वह समय है जबकि शारीरिक शक्ति बढ़ाई जा सकती है । भावात्मक अस्थिरता को संतुलित किया जा सकता है । यौन-प्रवृति, यौनिक-उत्तेजना आदि को संयमित करने का अभ्यास किया जा सकता है । इस प्रकार युवावस्था को ऊर्जा से भरपूर वेगमय जीवन को इस प्रकार संतुलित करने का प्रयास किया जाता था जो व्यक्ति के भावी जीवन को ऊर्जावान्, तेजवान एवं समृद्ध बना सके आज की भाषा में

कहें तो एक अनुशासन से पूर्ण ऐसे सांचे में ढालने की कोशिश की जाती थी जो जीवन का ठोस आधार बन जाता था ।

ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षित एवं दीक्षित होकर सादा जीवन एवं उच्च विचारों के साथ पठन-पाठन पूर्ण करके विद्यार्थी एक प्रतीकात्मक स्नान करता था और वह स्नातक बन जाता था । इसके पश्चात् अपने गुरू का आशीर्वाद लेकर विद्यार्थी, ब्रह्मचर्य आश्रम से विदा होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए अपने घर लौटता था ।

2. गृहस्थाश्रम - ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद स्नातक, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता । उसका विवाह संस्कार होता । पश्चिम में जहाँ विवाह को व्यक्ति की भौतिक आवश्यकता माना जाता है, वहीं भारतीय जीवन दर्शन में यह एक धार्मिक-संस्कार होता है । इसका लक्ष्य, सामाजिक कर्त्तव्य निभाना माना गया है । इस आश्रम में रहकर व्यक्ति, धर्म, अर्थ और काम का मर्यादाओं में रहकर पालन करना था । हर आश्रम की सीमाऐं तय की गई थी और यह बताया गया कि वह क्या करे और क्या नहीं करे । माता-पिता की आज्ञा माने, बडों का सम्मान करे, पत्नी के साथ सद्व्यवहार करे आदि ।

मादक पदार्थों का सेवन न करे, बुरी संगत में न पड़े और सक्रियता के साथ अपना कर्त्तव्य निभाये । नियमित यज्ञ करने का प्रावधान था । गृहस्थ के दायित्वों में पितृ ऋण, देव ऋण आदि से मुक्त होने की व्यवस्था थी । तात्पर्य यह था कि व्यक्ति ने जो कुछ ऋषि-मुनियों से सीखा, माता-पिता ने जो कुछ उसके लिए किया और देवों का जो उसे आशीर्वाद मिला, इन सबके बदले वह इनके लिए सदैव अपना कर्त्तव्य पूरा करे । रोज सुबह स्वाध्याय करने का नियम था ।

वैदिक धर्म-ग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा थी ताकि व्यक्ति निरन्तर सद्बुद्धि के साथ अपना कार्य कर सके । देवों की कृपा से उसका जीवन अच्छा और समृद्ध बना रहे, इसके लिए ऋण-मुक्त होने के लिए यज्ञ किये जाने का प्रावधान रखा गया । माता-पिता की सेवा करना, श्राद्ध-पक्ष में पितरों या पूर्वजों को पलदान या तर्षण एवं भोग प्रदान किया जाता रहा है । देवों, ऋषियों साधु-सन्तों, अतिथियों आदि के प्रति सम्मान और सत्कार, साधनों के अनुसार भोजन, वस्त्र, दक्षिणा दिये जाने आदि की परम्पराओं का समाज में प्रावधान रखा गया था ।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म को भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आश्रम माना गया और यह कहा गया कि गृहस्थ -आश्रम सभी आश्रमों की धूरी है । यदि कोई व्यक्ति गृहस्थ धर्म के अनुसार आचरण करता है और अपने कर्त्तव्यों को निभाता है तो वह ब्रह्मचर्य आश्रम के समान ही पवित्र जीवन बिताता है । गृहस्थ को सन्यास आश्रम से भी ऊपर माना गया है क्योंकि सन्यास में तो व्यक्ति स्वयं का ही कल्याण करता है लेकिन गृहस्थ आश्रम में रहकर व्यक्ति सभी आश्रमों के लिए पोषण का कार्य करता है । गृहस्थाश्रम को समाज की नींव एवं आधार कहा गया है ।

3. वानप्रस्थ आश्रम - भारतीय मनीषियों ने बताया है कि 25 से 50 वर्ष की आयु तक मनुष्य को गृहस्थ जीवन में धर्म, अर्थ, काम आदि से सम्बन्धित अपना कर्त्तव्य पूरा करने के बाद में वानप्रस्थी हो जाना चाहिए । 50 वर्ष के बाद जीवन का ढलान शुरू होता है । शरीर शिथिल

होने, बाल सफेद होने आदि की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, पुत्र-पुत्रियों के विवाह हो जाते हैं और नाते-पोते हो जाते हैं । इसलिए मनुष्य को विषयों को छोड़कर वानप्रस्थी हो जाना चाहिए । त्यागमय जीवन बिताना चाहिए लेकिन अकर्मक नहीं होना चाहिए । आज के युग में वनों में जाने की आवश्यकता तो नहीं लेकिन व्यक्ति तीर्थाटन, भजन-पूजन की ओर ध्यान देते हुए अपने जीवनक्रम की दिशा तो बदल ही सकता है ।

आखिर मनुष्य को एक पीढ़ी द्वारा आगे की पीढ़ी को दायित्व सौंपकर सशक्त बनाना होता है । अत: वह स्वयं मोह-माया से मुक्त होने का इस वानप्रस्थ में अभ्यास करता है और फिर सन्यास की ओर रूख करता था ।

वानप्रस्थ-व्यवस्था के कारण युवा पीढ़ी के लिए स्वत: ही मार्ग प्रशस्त हो जाता था । यदि बड़ी उम्र के अपने स्थान पर चिपके रहेंगे तो युवाओं मे बेकारी बढ़ेगी और वे जिम्मेदारी सम्भालने में सक्षम नहीं बन पायेंगे । यही कारण है कि वानप्रस्थ की परम्परा उपयोगी सिद्ध हुई थी । इस अवस्था तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्ति समाज का अंग बना रहता था । इसके पश्चात् वह अपना नाम बदलकर अपनी पुरानी पहचान और कर्म को छोड़कर त्यागमय जीवन की ओर उन्मुख हो जाता । घूम-घूमकर समाज को उपदेश देता । सन्यासी के धर्म में ब्रह्मचर्य, पवित्रता, भिक्षावृति से भोज पाना आदि शामिल थे । निर्लिप्त भाव से समाज की सेवा और कल्याण करना ही उसका लक्ष्य रह जाता था । इस प्रकार व्यक्ति द्वारा संचित ज्ञान और अनुभव से समाज को उचित मार्गदर्शन भी मिल जाता और सन्यासी को भोजन के अलावा कुछ देना भी नहीं पड़ता था।

13.2.3 आश्रम- व्यवस्था के सिद्धान्त

आश्रम-व्यवस्था कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है । भारतीय समाज में यह माना गया है कि मनुष्य का अस्तित्व प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों जैसे अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी आदि पर निर्भर है । इसलिए ये पूजनीय हैं । माता-पिता उसका पालन करते हैं । गुरूजन उसे शिक्षा देते हैं । इस प्रकार वह इन सबका ऋणी होता है क्योंकि समाज, परिजन, गुरूजन आदि सब उसके विकास में योग देते हैं । इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में क्षमता अनुसार ये ऋण चुकाये । लेकिन मनुष्य ऐसा तभी कर पाता है जबकि वह अपने कर्त्तव्य पूरा करने में सक्षम हो । मनुष्य को सद्चरित्र एवं सक्षम बनाने मे यह व्यवस्था योग देती थी । इसलिए ब्रहमचर्य, तप, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के पुरूषार्थ बताये गये । यज्ञों एवं संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति का जीवन उज्जवल एवं परिष्कृत किया जाता था ।

इस प्रकार व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास को ध्यान मे रखते हुए आश्रम-व्यवस्था के नियम बनाये गये और इस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक आधार पर जीवन-क्रम की संरचना की गई । भले ही आधुनिक युग में प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था की पकड़ समाप्त होने लगी है । लेकिन इन व्यवस्थाओं के अभाव के कारण ही समाज में अनेक विसंगतियाँ पैदा हुई है । युवावस्था में विद्यार्थी, ब्रहमचर्य, संयम आदि का पालन नही करता तो गृहस्थी भी इस आश्रम के आदर्शों से विमुक्त है । वानप्रस्थ का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता है । राजनीति हो या शासन-प्रशासन,

व्यक्ति अशक्त हो जाने पर भी अपने पद से चिपका रहता है । इससे युवा पीढ़ी भी कुंठित होती है ।

वर्तमान समाज-व्यवस्था का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि समय के बदलाव के साथ भले ही आश्रम-व्यवस्था प्राचीन रूप में उपयुक्त न हो लेकिन उस व्यवस्था की अनेक खूबियों को लागू किया जाये तो समाज और देश की कायापलट होना सम्भव है ।

13.2.4 आश्रम- व्यवस्था का सामाजिक महत्व

भारतीय मनीषी और समाजशास्त्री इस बात से पूर्णत: परिचित थे कि व्यक्ति को उपयुक्त एवं अच्छा सामाजिक वातावरण देकर ही उसका समुचित विकास किया जा सकता है । साथ ही वे यह भी जानते थे कि व्यक्ति ही समाज की महत्वपूर्ण इकाई है । यदि सभी व्यक्तियों का जीवन नियमों के साथ व्यवस्थित और उज्जवल है तो वे एक उत्तम समाज का निर्माण कर पायेंगे ।

आश्रम व्यवस्था के सामाजिक महत्व पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होगा कि इस व्यवस्था से न केवल व्यक्ति में मानवीय गुणों को विकसित करने में सहायता मिलती थी बल्कि वह अपने को समाज का ऋणी मानता था । अपने विकास में समाज की भूमिका को अनुभूत करता था । समाज के इस ऋण को चुकाने का प्रयत्न करता था । इस प्रकार उसमें समाज के प्रति एक दायित्व एवं दृष्टिकोण विकसित होता था। व्यक्ति में यह अहम् नहीं था कि वह केवल अपने प्रयत्नों और साधनों से आगे बढ़ा है । उसमें अपने परिजनों, गुरूजनों, बड़ों आदि के साथ पूरे समाज के प्रति कर्त्तव्य एवं दायित्व का भाव उत्पन्न होता था ।

आश्रम-व्यवस्था के कुछ बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक मानदंड और आदर्श थे जो व्यक्ति की जीवन यात्रा को सुखद एवं सार्थक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते थे । इस व्यवस्था के कारण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण पैदा नहीं होता था । व्यक्ति अपने या अपने परिवार तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि सम्पूर्ण समाज और व्यक्ति उसके चिन्तन के अंग होते थे । आश्रम व्यवस्था का आधार सामाजिक उपयोगिता के साथ-साथ व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक भी था ।

13.3 भारत की जातिप्रथा

भारतीय समाज व्यवस्था का आधार वैज्ञानिक रहा है और इसी कारण यह निरन्तर विविध परिवर्तनों के बावजूद इतिहास के लम्बे दौर में अपनी विविधता में भी एकता को कायम रखने में समर्थ हुआ है । अनेकों विदेशी शक्तियों ने भारतीय समाज को तोड़ने और छिन्न-भिन्न करने के प्रयास भी किये । लेकिन अनेक प्रकार की जातियों, धर्मों, भाषाओं और मान्यताओं के बीच भारतीय समाज, एक सुदृढ़ रूप में खड़ा है ।

किसी काल विशेष से जातिप्रथा के सूत्रों की तलाश करने से पहले यदि हम वर्ण व्यवस्था की चर्चा करें तो लगेगा कि समाज का संगठन, लचीला और परिवर्तनशील था । व्यक्ति का कर्म ही उसकी जाति बन जाती थी । हर वर्ण के लिए अलग-अलग नियम और दायित्व थे । एक प्रकार से समाज के सभी कार्यों का भार चार भागों में बाँटकर चार-वर्णों को

सौंप दिया गया था । ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र (अर्थात् सेवा कार्यों में संलग्न लोग) ये चार वर्ण थे । व्यक्ति की जाति, जन्म से नहीं बल्कि कर्म से तय होती थी । लेकिन इस व्यवस्था में विकृतियाँ और विसंगतियाँ आई जिसका नुकसान भी समाज को भुगतना पड़ा ।

जातिप्रथा के बारे में भिन्न-भिन्न विचार और सिद्वान्त प्रतिपादित हुए हैं । संक्षेप में इन पर दृष्टि डालकर जातिप्रथा के पनपने के कारणों को हम समझने का प्रयत्न करेंगे ।

जाति-व्यवस्था या प्रथा का चलन किसी न किसी रूप में अनादिकाल से चला आ रहा है । समाज का स्तरीयकरण इस प्रकार होता आया है जिसमें एक स्तर के व्यक्तियों के अधिकार और कर्त्तव्य दूसरे स्तर की तुलना में स्पष्ट रूप से अलग दिखाई दे । समाज निरन्तर विभिन्न श्रेणियों या समूहों में बँटता गया है । इनमें कुछ समूह या इकाईयों का स्तर ऊँचा तय हो गया तो कुछ का उनकी तुलना में नीचे । इसका कारण यह भी रहा होगा कि कुछ लोग ज्यादा कुशल रहे होंगे और कुछ कम ।

जहाँ तक भारतीय समाज का प्रश्न है, यहाँ समूह या श्रेणी या इकाई वर्ण व्यवस्था के रूप मे चार थी । उसी परम्परा का विस्तार हुआ और कर्म या व्यवसाय के आधार पर जातियाँ बनती गई । पुरानी भारतीय ग्रामीण संरचना में पढ़ने-पढ़ाने वाला कोई भी हो, वह ब्राहमण, सुरक्षा के काम में लगा क्षत्रिय, व्यवसाय करने वाला वैश्य एवं सेवा कार्यों को करने वाला शुद्र माना जाता था । फिर, विस्तार यों हुआ कि मिट्टी के बर्तन बनाने वाला कुम्हार, लकडी के औजार बनाने वाला शिल्पी खाती, लोहे का सामान बनाने वाला लौहार, बाल बनाने वाला नाई आदि जातियाँ विभक्त हो गई । सफाई करने वालों का भी उच्च स्थान था ।

1911 की जनगणना मुसलमानों में 94 जातिय समूह पाये गये तथा ईसाई भी उच्च या निम्न समूहों में बँटे थे । प्रारम्भ में जाति व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट और सरल था । लेकिन समाज के सबल वर्गों ने इसके स्वरूप को अलग-अलग अर्थ और विकृतियों से ग्रस्त कर दिया । ताकतवर व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का रहा हो ।

13.3.1 जाति का अर्थ

जाति शब्द अंग्रेजी के 'कास्ट' और पुर्तगाली भाषा के 'कास्टा' शब्द से बना है जिसका अर्थ है प्रजाति, जन्म या नस्ल । इसके अनुसार जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर एक व्यवस्था बन गई । चाहे व्यक्ति के कर्म भी हों, वह उस जाति का हो गया जहाँ उसका जन्म हुआ । इस प्रकार जाति, जन्म से निश्चित होकर एक सीमा में बन्द हो गई । इस प्रकार धीरे-धीरे जातियाँ अपनी-अपनी जाति में विवाह, शिक्षा, व्यवहार, धर्म आदि की दृष्टि से अपनी-अपनी सीमाओं में बँधती गई । एक ही प्रकार की जीवनशैली में बँधकर ये एक परिवारों का समूह या संकलन बन गया ।

इस प्रकार जन्म के आधार पर सामाजिक स्तरीयकरण की जाति एक गतिशील व्यवस्था बन गई । विवाह, खानपान, ऊँच-नीच आदि अनेक प्रतिबंध और विकृतियों के दौर ने समाज को जातियों मे बाँट दिया ।

13.3.2 जाति व्यवस्था की प्रकृति

भारतीय समाज की प्राचीन परम्परा तो वर्ण-व्यवस्था पर आधारित एक सम्पूर्ण इकाई था लेकिन इस विस्तार से कटकर विभिन्न समूह और समुदाय अपने सीमित दायरे में सिमटने लगे और भारत इन जातियों के खण्डों में बँटता गया । इसका अर्थ यह नहीं है कि जाति विशेष का व्यक्ति समाज से पूर्णत: कट गया । लेकिन यह प्रवृत्ति तो बढी कि उसकी श्रद्धा और झुकाव अपनी जाति की ओर अधिक होने लगा । जाति के नियमों के विरूद्ध जाने पर जुर्माने और जाति से बाहर किये जाने की परम्परा भी चली ।

जातिप्रथा में हर जाति की स्थिति निश्चित हो जाती है । जन्म पर आधारित होने के कारण संस्करण मे दृढ़ता और स्थिरता अधिक होती है ।

भोजन एवं सामाजिक व्यवहार में भी जातिप्रथा में ऐसे नियम बने कि कौन किसके हाथ का पानी पीये या न पीये, किसके यहाँ का खाना खाये या न खाये आदि ।

जातियों के सामाजिक अधिकार भी भिन्न हो गये । ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का भेदभाव भी पनपा । अब जातियों के कुछ प्रमुख पेशे या सेवाएं हो गई ।

इस प्रकार खण्डो में विभाजित समाज में कुछ बुराई आई क्योंकि यह विभाजन किन्हीं गुणों, योजनाओं, क्षमताओं और कुशलता पर आधारित नहीं था बल्कि जन्म पर आधारित था । लेकिन समय के साथ यह तार्किक दृष्टि से सही नहीं होने के कारण या समाज पर बड़े इसके बुरे प्रभावों के कारण समय ने करवट ली । आज भी जाति-प्रणाली कायम है लेकिन इसकी दृढ़ता और नियम ढीले पड़े हैं । खानपान में छुआछूत, विवाह या अन्य नियमों की दृष्टि से अनेक परिवर्तन आये हैं और भारतीय समाज ने अपनी मूल जड़ों को तलाशने तथा अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण व्यवस्थाओं से कुछ सीखना आरम्भ किया है ।

अब दुनियाँ इतनी तेजी से बदली हैं कि संचार, यातायात आदि के विकास ने हर संस्कृति का एक दूसरे के करीब ला दिया है । हर देश एक दूसरे से ज्ञान का आदान-प्रदान कर रहा है और समय के साथ आई कई बुराईयाँ अनेक समाज सुधारकों एवं वैज्ञानिक प्रगति के कारण दूर हुई है । लेकिन अभी भी जाति-व्यवस्था को तर्कसंगत बनाने की यात्रा लम्बी है । जाति के साथ भी गोत्र जुड़े हैं और वे भी अनेक हैं । आज के परिवेश में समाज खण्डों मे विभक्त है भले ही कुछ कमजोर जातियों या वर्गों को विशेष सुविधा देने के प्रयास हो रहे हो । जनजाति और अनुसूचित जातियाँ हैं। वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था भी समाज को एक सूत्र में बाँधने के बजाय स्तरीयकरण की या जातिगत भावनाओं' का अपने लाभ के लिए उपयोग करती है ।

प्रारम्भ से अब तक जाति व्यवस्था को लेकर विद्‌वानों ने अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं । इस सन्दर्भ में परम्परागत, समालोचनात्मक, राजनैतिक, धार्मिक, व्यावसायिक आदि विविध सिद्धान्तों को आधार बनाकर जाति-प्रणाली के विभिन्न पक्षों, इसके प्रारम्भ और प्रकृति के बारे में भिन्न-भिन्न राय प्रगट की गई है ।

जाति-व्यवस्था में हर जाति के अपनी-अपनी जाति के लिए कार्य हैं और जातिगत बंधनों के कारण लोग आज भी राजनीति में विशेष रूप से जाति के संगठन का समर्थन पाने के

लिए जाति विशेष का भावात्मक शोषण करते हैं । भले ही सैद्धान्तिक रूप से वे संकीर्णता से हटकर देश के व्यापक परिवेश की बात करें ।

जाति, धर्म, सम्प्रदाय, राजनीति आदि की दृष्टि से भले ही भारतीय समाज को जातिगत समाज कहा जाये लेकिन भारतीय सांस्कृतिक जीवन की विशेषताओं का असर सभी जातियों पर पड़ा है । वे एक दूसरे से भिन्न विचार और आचरण के बावजूद कहीं एक हो जाते हैं । वैसे ही जैसे महाभारत के युद्ध में कौरव और पाण्डव, एक दूसरे के विरूद्ध थे परन्तु कोई और उन पर हमला करे तो वे 105 थे । जाति व्यवस्था की अच्छाई भी रही है । लेकिन जो कमियाँ हैं, उनके दूर होने का सिलसिला और प्रक्रिया भी तेज हुई है ।

13.4 जाति-व्यवस्था से हानियाँ

भारतीय प्राचीन परम्पराओं और व्यवस्थाओं के भारतीय जीवन में कमजोर पड़ने के अनेक दुष्परिणाम हुए हैं । इनमें जातिप्रथा या व्यवस्था भी अनेक अच्छाईयों के बावजूद विकृतियों से ग्रस्त होती गई । देश के लोग जातियों के सीमित दायरों में बंद होते गये । इससे समाज के प्रति उनके सामूहिक दायित्व में कमी आई ।

इससे ऊँची जातियों या सबल जातियों ने अपने से कम स्तरीय या नीचे के लोगों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया । शोषण भी किया गया जो किसी भी समाज व्यवस्था में न्यायपूर्ण नहीं माना जा सकता । जातिप्रथा से समाज में छुआछूत जैसे घातक रोग आये । समाज में अकर्मण्यता भी बढ़ी । बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा विवाह जैसी अनेक कुरीतियाँ भी समाज को खोखला करने लगी । जन्म को आधार मानने से व्यक्ति की पूर्ण क्षमता का समाज को लाभ नहीं मिल पाया ।

जाति व्यवस्था राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार में भी बाधक बनी और प्रजातन्त्रीय व्यवस्था में तो यह अत्यन्त घातक साबित हुई है ।

लेकिन कुछ विद्वान जाति व्यवस्था की बुराईयों से हटकर इसके उज्जवल पक्ष पर ध्यान देते हैं । उनके अनुसार जातियों का अर्थ सीमित दायरों में बँधे संगठित समुदाय हैं । यदि हर समुदाय, एक दूसरे की भावनाओं से करीब से जुड़कर अपनी जाति को उन्नत करने के प्रयास करें तो ये सभी इकाईयाँ मिलकर एक खुशहाल और समृद्ध समाज की रचना करते हैं । इस मत के लोगों का कहना है कि जाति व्यवस्था में जो दोष हैं, उन्हें दूर करना चाहिए और इसकी अच्छाईयों को नकारना नहीं चाहिए ।

13.5 जाति व्यवस्था में आये परिवर्तन

जाति-व्यवस्था की जटिलताओं के बावजूद भारतीय समाज ने अपना विभिन्नता में एकता का स्वरूप कायम रखा । इसके दोष अधिक थे लेकिन कुछ इसमें खूबियाँ भी थीं । समय के साथ वैचारिक धरातल या अन्य प्रकार के कई परिवर्तन हुए जिनका प्रभाव जाति व्यवस्था पर भी पड़ा ।

यद्यपि आज भी भारतीय समाज में जाति व्यवस्था कायम है लेकिन इसका स्वरूप बदला है और संकीर्णताएं कम हुई हैं । ऐसे अनेक कारक हैं जिन्होंने भारतीय जाति व्यवस्था में परिवर्तन किये हैं ।

पाश्चात्य-शिक्षा एवं सभ्यता के भले ही कई दोष हैं लेकिन पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव भारतीय जीवनशैली पर पड़ा है । भारतीयों के रहन-सहन, खानपान आदि में बदलाव आये हैं और योग्य एवं कुशल लोगों को अलग-अलग पेशे में जाने का अवसर मिला है । इसके साथ ही आवागमन के साधनों, संचार साधना आदि का तेजी से विकास हुआ है । नई आर्थिक व्यवस्था आई है और नये-नये व्यवसाय और उद्‌यम प्रारम्भ हुए हैं । मशीनीकरण ने भी समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं । नये सामाजिक मूल्य स्थापित हुए हैं, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक आन्दोलन हुए हैं । देश में प्रजातंत्रीय व्यवस्था कायम हुई है । कानून भी बदले हैं । संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ है । स्त्री-शिक्षा के साथ शिक्षा का व्यापक प्रसार हुआ । जातिगत पंचायतें और पुराने तौर-तरीके कमजोर हुए हैं । कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना की गई है ।

आज का युग विज्ञान का युग है जहाँ हर चीज के तर्क की कसौटी पर कसा जाता है जो व्यवस्थाएं रूढ़िवादी और समाज के विकास मे बाधक हैं, उन्हें समाप्त करके एक नये समाज की संरचना की प्रक्रिया शुरू हुई है । समाज और देश को समृद्ध और मजबूत बनाना है तो हमें रूढ़िवादी रास्ते से हटकर समयानुसार अपनी व्यवस्थाओं को बदलना होगा । इसी विचार को लेकर भारत के संविधान में सबको समान स्वतन्त्रता, अधिकार, कर्त्तव्य और विकास के समान अवसर दिये जाने का प्रावधान किया गया है ।

साथ ही ऊँच-नीच, खानपान की पाबंदियाँ ढीली पड़ी हैं । सबको व्यवसाय और पेशे में इच्छानुसार जाने की छूट है । जन्म के आधार पर जाति की श्रेष्ठता या निम्नता के सिद्धान्त को पूर्णतया नकार दिया गया । बदले हुए सन्दर्भों में परिवर्तन की एक लहर आई है जिसने गत पाँच दशक में देश की जाति-व्यवरथा की कमजोरियों को खत्म करने की दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ की है ।

13.6 सारांश

जाति-व्यवस्था का आधार, वर्ण व्यवस्था से आरम्भ करके देखें तो यह तर्कसंगत था लेकिन जन्म के आधार पर जब से जाति निश्चित होने लगी तो कालान्तर में भारतीय समुदाय अनेक जातियों में बँट गया और इसका आधार विसंगतियों से पूर्ण हो गया । इससे भारतीय समाज कमजोर हुआ । लेकिन अनेक समाज-सुधारकों और विचारकों के प्रयत्नों से इस दिशा में कुछ परिवर्तन भी हुए । ग्रामीण व्यवस्था में ऊँच-नीच, छुआछूत तो रही लेकिन लम्बे समय तक ग्रामीण पंचायतों में हर जाति को सम्मान और बराबर समझा जाता था ।

जाति प्रणाली से अनेक अत्याचारों और शोषण का सिलसिला भी चला । लेकिन जैसा कि बताया गया है कि देश के स्वतन्त्र होने, शिक्षा का प्रसार किये जाने तथा दुनियाँ मे आये वैज्ञानिक परिवर्तनों के कारण एक नया समाज करवट लेने लगा है और जातिप्रथा की कड़ियाँ कमजोर होने लगी है ।

लेकिन अभी यह कहना कठिन है कि जातिप्रथा खत्म प्राय: हो गई है । आज भी इसकी जड़ें जमी हुई हैं लेकिन इस व्यवस्था के अनेक दोष दूर हुए हैं और परिवर्तन की एक प्रक्रिया चली है ।

भारतीय समाज व्यवस्था में समय-समय पर अनेक कुरीतियाँ एवं दोष आये हैं । लेकिन साथ ही परिवर्तन और सुधार के प्रयास भी चले हैं । समय के साथ गतिशील भारतीय समाज और उन्नत होगा । ऐसा विश्वास किया जा सकता है ।

भारत में जाति व्यवस्था, एक जटिल व्यवस्था है और अनेक आधुनिक परिवर्तनों से इसकी जड़ें कुछ ढीली अवश्य पड़ी है लेकिन अभी भी जमी हुई है । इसका स्वरूप भी परिवर्तनशील रहा है और इसमें विभिन्नता है । जाति व्यवस्था के पनपने में कौन-कौन से कारकों ने योग दिया, यह विषय और प्रश्न अभी भी सुलझ नहीं पाया है । जाति व्यवस्था की उत्पत्ति, उद्भव एवं विकास की तह तक जाने के लिए विद्वानों ने एक लम्बे समय से निरन्तर प्रयास किये हैं लेकिन अभी भी इस प्रसंग में गुत्थियाँ सुलझ नहीं पाई है । भारतीय जाति-व्यवस्था के रहस्य की पर्तें खोलने के लिए कई भारतीय, पाश्चात्य मानवशास्त्रियों एवं सामाजशास्त्रियों ने अनुसंधान और विश्लेषण किये । इससे जो निष्कर्ष निकाले गये उनको लेकर हर विद्वान् ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये लेकिन जाति व्यवस्था सम्बंधी ये सिद्धान्त अलग-अलग संकेत देते हैं और इस सन्दर्भ में अभी भी विवाद है ।

पूर्व में भी वेदों, धर्मग्रन्थों, स्मृतियों महाकाव्यों में कई वर्णन आये हैं लेकिन इस बारे में स्पष्ट तस्वीर उभरकर नहीं आती । विभिन्न सिद्धान्तों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इनमें कुछ सिद्धान्त वैज्ञानिक आधारों को लेकर बनाये गये थे । लेकिन ऐसे सिद्धान्त भी जाति व्यवस्था की उत्पत्ति को स्पष्ट करने में सफल नहीं हो सके हैं । विभिन्न सिद्धान्तों में परम्परागत सिद्धान्त को देखें तो इसका स्रोत और आधार वेद, धर्मग्रन्थ, स्मृतियाँ एवं वर्ण व्यवस्था है । कर्म के आधार पर ब्राहमण, क्षत्रीय, वैश्य एवं शुद्र जो चार वर्ण माने गये हैं वह तो एक लचीली व्यवस्था थी । जहाँ तक इस व्यवस्था के जनक मनु का प्रश्न है वे जातिप्रथा या व्यवस्था को प्रतिलोम विवाह और वर्ण संकरता का परिणाम मानते हैं । धर्मग्रन्थो में बातें प्रतीकात्मक होती हैं और उनका अधिकांशत: तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया जाता । अर्थ भले ही कुछ भी हो, लेकिन ब्रहमा के विभिन्न अंगों से जातियों की उत्पत्ति की बात को वैज्ञानिक आधार को लेकर चलने वाले स्वीकार नहीं करते । प्रतिलोम विवाह से इस व्यवस्था की उत्पत्ति को भी विद्वानों ने नकारा है । दरअसल, इन परम्परावादी सिद्धान्तों की काफी आलोचना हुई है और इस बात को भी अस्वीकार किया गया है कि वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के आधार समान हो सकते हैं ।

धार्मिक सिद्धान्त के आधार पर जाति व्यवस्था के प्रारम्भ के बारे में होकार्ट का तो मानना है कि धार्मिक प्रथाओं एवं सिद्धान्तों के कारण जातियों के रूप मे समाज का विभाजन हुआ है । लेकिन समाजशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं । सेनार्ट नामक विद्वान् ने भोजन, विवाह एवं सामाजिक सहवास सम्बन्धी निषेधों को जाति व्यवस्था का कारण माना है । लेकिन इसके आलोचकों का कथन है कि विभिन्न जातियाँ किसी एक पूर्वज की सन्तानें नहीं हैं और न ही किसी प्रकार के निषेधों से इसकी उत्पत्ति हुई है । यह इतनी सरल बात नहीं हैं । सेनार्ट के सिद्धान्त को तार्किक एवं वैज्ञानिक नहीं माना गया है ।

फ्रांस के पादरी अबे डुबाय ने जातिप्रथा के राजनैतिक सिद्धान्त को लेकर कहा है कि जातिप्रथा, ब्राह्मणों द्वारा आयोजित चतुर राजनैतिक योजना है । ब्राह्मणों, ने अपनी सत्ता या वर्चस्व कायम रखने एवं अन्यों से अपने को श्रेष्ठ बनाये रखने के लिए ऐसा किया । एक अन्य विद्वान् डा. छुरिये ने भी इसका समर्थन किया और कहा कि जाति प्रणाली की उत्पत्ति में ब्राह्मणों का सक्रिय योग रहा । लेकिन इस सिद्धान्त को लोग अवैज्ञानिक मानते हैं और कहते हैं कि कोई भी समाज बिना सोचे समझे सदियों तक किसी की चाल या चतुराई का शिकार बनकर नहीं रह सकते । भले ही जाति प्रणाली की निरन्तरता बनाये रखने में ब्राह्मणों का कुछ योग रहा हो लेकिन वे इस व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण नहीं माने जा सकते ।

कुछ समाजशास्त्रियों ने जाति व्यवस्था के प्रारम्भ के पीछे व्यावसायिक आधार माना है । व्यवसाय के अनुसार या कर्म के अनुसार जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था थी, वैसे ही धीरे-धीरे विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोगों की अपनी-अपनी जातियाँ बनती गई । विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच का भेदभाव भी उच्च प्रकार के या निम्न प्रकार के व्यवसाय के कारण ही पैदा हुआ । इस प्रकार जातियों को विभिन्न व्यावसायिक समूह माना गया है । ऐसे तीन समूह माने गये हैं - शासक, पुरोहित और वैश्य । ये भी व्यवसाय विशेष में विभाजन से जातियों में परिवर्तित होते गये । इस सिद्धान्त के बारे में डा. मजूमदार का कहना है कि इसमें प्रजातीय तत्वों की उपेक्षा की गई है और यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि विभिन्न जातियों के बीच ऊँच-नीच का भेदभाव किस प्रकार उत्पन्न हुआ । इस सन्दर्भ में यह भी कहा गया है कि जब कृषि में लगे लोगों का व्यवसाय एक ही है तो फिर उनकी जातियाँ अलग-अलग क्यो है? इसके अलावा भारत में इतनी संख्या में व्यवसाय नहीं हैं जितनी संख्या जातियों की है । भारत में 4-5 हजार जातियाँ और उपजातियाँ हैं । जाति व्यवस्था के आरम्भ को लेकर कराये गये विभिन्न सिद्धान्तों में उद्विकास या इवोलुशनरी सिद्धान्त भी हैं जो मानता है कि जातियों की उत्पत्ति वर्णों से नहीं बल्कि श्रम विभाजन या व्यावसायिक संघों से हुई । जीवन में ज्यों-ज्यों आर्थिक जटिलता आती गई, व्यवसाय एवं पेशे का विभाजन होता गया । लेकिन इसके विरोध में कहा गया है कि व्यावसायिक संघ तो अनेक देशों में है, फिर वहाँ भारत जैसी जाति व्यवस्था क्यों नहीं पनपी । यह तर्क भी दिया गया है कि जाति व्यवस्था जैसी जटिल संस्था की उत्पत्ति को ब्राह्मणों द्वारा अपनी श्रेष्ठता एवं प्रभुत्व कायम रखने की चाल बताना भी सरासर गलत है ।

प्रजातीय सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि भारत में विभिन्न प्रजातियों के मिश्रण एवं अनुलोभ विवादों के परिणामस्वरूप जाति प्रणाली की उत्पत्ति हुई । भारत पर आक्रमण हुए । आक्रमणों के साथ स्त्रियाँ नहीं आई । इसलिए अनुलोम विवाह हुए लेकिन प्रतिलोभ विवाह की इजाजत नहीं थी । आर्य भारत आये और उसके बाद यहाँ के मूलवासियों के बीच प्रजातीय सम्पर्क हुए । वर्ण संकरता के कारण भेद की भावना पनपी जो जाति, व्यवस्था का कारक बनी । प्रजातीय या सांस्कृतिक विभिन्नताओं से यदि जाति व्यवस्था कायम होती है तो इसाईयों और मुसलमानों में ऐसा क्यों नहीं हुआ आदि कुछ उदाहरण देकर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के इस कारण को' भी विद्वानों ने नकारा है । आदिम संस्कृति का सिद्धान्त यह कहता है कि नागा या अन्य आदिवासी लोग जो बाहरी संस्कृतियों के सम्पर्क में नहीं रहते और समूहों में बँटे हैं, उनमें

जातियाँ क्यों नहीं पाई जाती । कुछ विद्वान इस प्रकार के विश्लेषणों से हटकर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए अनेक कारकों का योग मानते हैं । सांस्कृतिक एकाभाव को भी कुछ लोग जाति व्यवस्था का कारण मानते हैं । परन्तु कुल मिलाकर देखें तो जाति व्यवस्था किसी समय विशेष में नहीं पनपी । यह लम्बे समय में अनेक कारकों के कारण उत्पन्न हुई ।

13.7 कुछ उपयोगी साहित्य

1. Hutton, Caste India.
2. E.A.H. Bhatt, The Caste System in Northern India.
3. Caste is a Closed Class : Majumdar D.N. & Madan T.N.: An Introduction to Anthropology.

13.8 अभ्यास प्रश्न

1. जाति की परिभाषा देते हुए इसकी विशेषताएं बतायें ।
2. भारत में जाति-व्यवस्था से हुई हानियों का वर्णन करें ।
3. जाति-व्यवस्था में आये परिवर्तनों पर अपने विचार व्यक्त करें ।
4. जाति-व्यवस्था से क्या कोई लाभ हुए है ? स्पष्ट कीजिए ।
5. जाति की उत्पत्ति के बारे में विस्तार से विचार व्यक्त कीजिए ।

इकाई - 14 : भारत की मान्यताएं

रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 धार्मिक मान्यताएं
14.3 ऐतिहासिक लोक मान्यताएं
14.4 जनजातीय मान्यताएं
14.5 नगरीय मान्यताएं
14.6 मांगलिक प्रतीक
14.7 सारांश
14.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
14.9 उपयोगी साहित्य

14.0 उद्देश्य

आप भली प्रकार से जानते हैं कि भारत एक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति का धनी देश रहा है । यहाँ की संस्कृति, धर्म, जीवनशैली आदि विभिन्न क्षेत्रों में विविधता का समावेश है । भारतीय संस्कृति के जनतान्त्रिक स्वभाव का ही परिणाम है कि इसने सदैव दूसरे धर्मों से सीखा है और दूसरों को स्वीकारा है । जितनी विविधता इसके सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में है, उतनी ही विविध इसकी ऐतिहासिक, जनजातीय, नगरीय आदि मान्यताएं, आस्थाएं और विश्वास है । भारतीय जीवन में प्रतीकों का सर्वाधिक महत्त्व है वे अनेक जीवन रहस्यों एवं अर्थों को प्रगट करते हैं । वे मान्यताओं की अभिव्यक्ति का साधन भी है ।

इस इकाई का लक्ष्य यह है कि इसके अध्ययन से आप जहाँ भारतीय परिवेश में धार्मिक मान्यताओं, आस्थाओं और विश्वासों को समझने में समर्थ होंगे वहीं आप भारतीय सांस्कृतिक एवं पर्यटन सन्दर्भों में इन सभी मान्यताओं, प्रतीकों आदि के मर्म को समझाने में भी सक्षम हो सकेंगे ।

आप जानते हैं कि आधुनिक युग परिवर्तनों का युग है और इस युग में हर स्तर पर तेज परिवर्तन प्रक्रिया जारी है । ऐसे में भारतीय जीवन एवं परम्पराओं की तह में छिपी मान्यताओं के मर्म को समझे बिना भारतीय संस्कृति से परिचय पूर्ण नहीं होता । यह इकाई इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है ।

14.1 प्रस्तावना

भारत के हर प्रदेश और क्षेत्र की मान्यताओं को देखें तो विस्मय होता है । आधुनिक युग में यद्यपि मान्यताओं की पकड़ कमजोर पड़ी है लेकिन उनकी जड़ें अभी भी गहरी हैं । भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं अन्य प्रकार की मान्यताओं को लेकर कई बार भ्रम भी पैदा होते हैं । इस कारण आधुनिक युग की वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि में इनका विशेष महत्त्व

उपयोगिता समझ में नहीं आती । यह स्थिति इसलिए पैदा हुई है क्योंकि धर्म का अर्थ धारण करने से है और भारतीय जीवनशैली में धर्म को जीवन का अंग बनाया गया है । धार्मिक मान्यताओं के अर्थ, उपयोगिता आदि की विवेचना और विश्लेषण के बजाय जीवन के लिए श्रेष्ठता पैदा करने वाले कार्यों को मान्यताओं के रूप में प्रतिपादित कर दिया गया है । हर भारतीय का विश्वास है कि इन मान्यताओं के अर्थ हैं अर्थात् इनकी सार्थकता और उपयोगिता है । यदि सभी मान्यताओं के पीछे छिपे मर्म को खोला जाये तो ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण भारतीय जीवनशैली का आधार तथ्यात्मक एवं वैज्ञानिक नहीं हैं । इनका कोई न कोई कारण है ।

लोग मान्यताओं को अन्धविश्वास की संज्ञा भी देते हैं और इसका एक कारण उनका स्वयं का मान्यताओं के अर्थ से अनभिज्ञ रहना भी है ।

भारत की विभिन्न मान्यताएं इसकी सांस्कृतिक धरोहर है । उसने स्वयं अपने अनुभवों एवं ज्ञान के आधार पर जीवन की आस्थाओं विश्वासों और मान्यताओं की रचना की है । ये यदि पुष्ट नहीं होती तो सदियों से निरन्तरता के साथ भारतीय मानस में अपनी पैठ नहीं बैठा सकती थी । मनुष्य स्वयं अपनी संस्कृति का निर्माता, धारक और संवर्द्धन है । उसने प्रकृति के बीच रहकर उसकी गुत्थियों को सुलझाया है, उसकी जीवन में उपयोगिता और महत्त्व को समझा है । प्रकृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन में अपना कल्याण देखकर उसकी पूजा-अर्चना और रक्षा के उपाय किये हैं । भारतीय मान्यताओं के रोचक प्रसंग में यदि इनके अर्थों का खुलासा करेंगे तो इनकी सार्थकता और इनके जीवन में अस्तित्व का भेद स्पष्ट हो जायेगा । अत: इस इकाई का लक्ष्य भारतीय मान्यताओं के प्रमुख बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए इनका परिचय देना है ।

संस्कृति, आखिर अनेक तत्वों का समागम है । इसकी चर्चा करते समय धार्मिक मान्यताओं के पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती और यही कारण है कि इस इकाई में इनकी विशेष चर्चा की गई है ।

14.2 लोकप्रिय मान्यताऐं

समाज में ज्यादातर पाई जाने वाली आध्यात्मिक मान्यताएं हमेशा पहले से ही स्वीकारी हुई बातें होती हैं । समाज की एक प्रतिष्ठित मान्यता के नीचे एक ऐसी मान्यता छुपी होती है जिसके बारे में किसी को मालूम ही नहीं होता । हमे मान्यताओं, अवधारणाओं तथा सिद्धान्तों को एक विशिष्ट समय या समाज के संदर्भ में समझना चाहिए । क्योंकि एक सामाजिक परिस्थिति में मूल्य तथा मान्यताएं किसी समाज से अथवा समाज के द्वारा परिभाषित की जाती है । मान्यता हमें अप्रतिबन्ध, अन्आरक्षित तथा अस्थिति सापेक्ष स्वीकृति के बारे में बताती है । यह मान्यता की अवधारणा का भाग है जहाँ मनुष्य उन चीजों पर भरोसा करता है जिन पर वह विश्वास करता है । मान्यता को परिभाषित करते हुए जोसेफ पाईपर लिखते है कि "विश्वास का अर्थ हमेशा किसी पर विश्वास करना या किसी चीज के बारे में विश्वास करना होता है । विश्वास करने वाला हमेशा किसी वस्तु को, दूसरों के सत्य कथन के आधार पर, सही और सच्चा मानता है।"

मान्यताएं संस्कृति का ही भाग होती है । संस्कृति मानव निर्मित होती है । संस्कृति वह समग्र जटिलता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है । श्यामचरण दुबे कहते हैं कि हम संस्कृति को "मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं ।"

लोक संस्कृति रहन-सहन की एक प्रणाली है, एक सामाजिक विरासत है जिसे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त किया जा सकता है । प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक तथा सामाजिक भिन्नताओं के परिणामस्वरूप संस्कृति के स्वरूप में विशिष्टता अथवा भिन्नता देखने को मिलती है । भारत की जनजातियों की संस्कृति ग्रामीण या शहरीय इलाकों से बहुत भिन्न है।

14.3 भारतीय ऐतिहासिक लोक मान्यताएं

प्राचीन युग का भारत या तो मोक्षमार्गी था, या यक्ष, भूत, पिशाच आदि उपदेवताओं का पूजक, या तो सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति में पहुँचकर लोग तत्व चिन्तन करते थे या अज्ञात के स्तर पर गिरकर प्रेत पूजा करते थे । बौद्ध या जैन आचार्य शून्य की ओर देखते थे और जनसाधारण यक्षों और प्रेतों के डर से घर-घर काँपता था । बौद्ध भी यक्ष, प्रेत, पिशाच जल-प्रेत, वृक्ष देवता के अस्तित्व को मानते थे । "मार" बुद्ध युग का "शैतान" था, जो बुद्धदेव को सिद्धि लाभ के समय काफी सता चुका था । चमत्कारों का भी महत्त्व था, जैसे आकाश में उड़ना, अदृश्य हो जाना, संदेह पितृलोक चले जाना और लौट जाना, किसी को यमराज और पिशाच दिखला कर डरा देना आदि । यक्ष और प्रेत प्राय: मनुष्य के बीच में आ जाते थे और उन्हे पीड़ित करते थे । शमशान में जाकर सिद्धि-लाभ करना या भूत-सिद्ध करना गर्हित कर्मों का वर्णन भी जातक कथाओं में है ।

जातक युग में दूसरे प्रेतों से यक्ष अधिक बलवान थे और उनकी पूजा अर्चना खूब होती थी । दैत्य भी बड़े ही तीखे होते थे जो जंगली रास्ते से जाने वालों को मारकर खा डालते थे । एक-एक वन एक-एक नाम से बदनाम था जैसे - चोरों का वन, साँपों का वन, भूतों का वन ।

यक्ष पूजा एक अजीब सी चीज है । वेदों में यक्ष नहीं है । रामायण में भी यक्षों का कोई स्थान नहीं है किन्तु जातक युग में इन्होंने तो अपना साम्राज्य ही स्थापित कर लिया था । उस समय यक्ष नगरी तक का उल्लेख मिलता था । किन्नरों की चर्चा भी जातक कथाओं में आई हैं । किन्नर प्रेमी स्वभाव के होते थे । किसी का अहित करना या यक्षों की तरह नरमांस भक्षण करना किन्नरों को रूचिकर न था ।

प्राचीन भारतीय धर्म में "नाग" की पूजा बहुत महत्वपूर्ण थी । वैदिक युग के द्रविड़ लोगों में नाग" की पूजा सबसे ऊँची समझी जाती थी । इसके साथ लोगों मे यह मान्यता भी पनपने लगी कि जिन चीजों से हमें लाभ मिलता है उनकी भी पूजा की जानी चाहिए । दक्षिण भारत में सालाना "अयूद्दा-पूजा" का उत्सव मनाया जाता है, जिस दिन प्रत्येक कारीगर अपने औजारों की पूजा करता है । विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अपनी किताबों कॉपियों तथा कलम की

पूजा करता है, गाड़ी चलाने वाले अपनी या अपने मालिक की गाड़ी की पूजा करते हैं और उद्योगों में काम करने वाले मजदूर तथा कर्मचारी अपनी मशीनों की पूजा भेड़ की बलि चढाकर करते हैं । गाड़ी वाला दुर्घटना से बचने के लिए अपनी गाड़ी की पूजा करता है ।

समय के साथ-साथ द्रविडों की यह मान्यता धीरे-धीरे मूर्ति पूजा की ओर बढ़ती जाने लगी । गाँव में लोगों ने देवी की पूजा करना शुरू कर दिया, जो उन्हें भयंकर बीमारियों से बचा सके । तेलगू गाँव में गंगाअम्मा देवी की पूजा होने लगी । इनकी पूजा केवल जानवरों की बलि से ही की जाती थी और सबसे अच्छी बलि तो भैंसों की मानी जाती थी । गाँव का प्राकृतिक विपदा विशेषकर सूखे से बचाने के लिए ऐसा किया जाता था ।

14.4 भारतीय जनजातीय मान्यताएं

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जनजातियों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । मानव शास्त्रियों ने इन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है । रिसले, लेके तथा ग्रिगसन ने उन्हें आदिवासी (एजारिजिंस) नाम से पुकारा है । हट्टनने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) कहा है । सर बेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियाँ (हिल ट्राइब्स) की संज्ञा दी है । सेल्जनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववाद (एनिमिस्ट्रस) कहते हैं । बेन्स ने उन्हें वन्य जाति (जंगल पीपुल, फोरेस्ट ट्राइब्स अथवा फौक) नाम से संबोधित किया है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री डी. धुरये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सौ काल्ड एवारिजिहस) अथवा "पिछड़े हुए हिन्दू" नाम दिया है तथा उन्होंने इनके लिये अनुसूचित जनजातियाँ (शिड्यूल्ड ट्राब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है ।

डॉ. मजुमदार जनजातियों के बारे में बताते हैं कि वे पारिवारिक वर्गों का एक ऐसा समूह है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं तथा जिन्होंने आदान-प्रदान सम्बन्धी एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है । साधारणतया एक जनजाति अन्तर्विवाही समूह है । अत: हम यह कह सकते हैं कि एक आदिवासी समुदाय की अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, पुराकथा व प्रजाति होती है । आमतौर पर प्रत्येक जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर निवास करती है । इनको देश के प्राचीनतम लोगों में से माना जाता है ।

जनजातियों की संस्कृति तथा मान्यताओं के बोर में अनेक तथ्य उपलब्ध हैं । भारत की सभी जनजातियाँ सांस्कृतिक दृष्टि से लगभग समान होती है । कही-कहीं, पर ही कुछ असमानताएं नजर आती है । जब, हम उनकी पारिवारिक रूप-रेखा को देखते हैं, तब हमें उन लोगों मे मातृ-सत्तात्मक, व पितृ-सत्तात्मक, बहुपति, बहुपत्नी संयुक्त तथा नाभिक परिवार देखने को मिलते हैं । मातृ-सत्तात्मक परिवार भारत के ज्यादातर ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर निवास करने वाली खासी और गारो जनजाति में, केरल के नायर जनजाति में तथा दक्षिण भारत की कादर, इरूला तथा पुलायन जनजातियों में पाया जाता है । ऐसे परिवारों मे मातृ स्थानिक निवास होता है तथा सर्वोच्च स्थान स्त्री को प्राप्त होता है । परिवार की आर्थिक व्यवस्था में, सम्पत्ति तथा अन्य सामाजिक, विषयों पर, वास्तविक अधिकार स्त्रियों का होता है

। परिवार के बच्चे, अपनी माता के कुल या वंश के नाम से जाने जाते हैं । विवाह के बाद पति अपनी पत्नी के घर पर जाकर रहता है । बच्चों की देख-रेख व लालन-पालन में पिता बने अधिक अधिकार माता का होता है । ऐसे परिवारों में स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

पितृसतात्मक परिवार ज्यादातर उड़ीसा के पहाड़ी प्रदेश में रहने वाली खड़िया जनजाति में, भील जनजाति में तथा अंगामी नागा जनजाति में पाये जाते हैं । ऐसे परिवारों में पिता का स्थान सबसे प्रमुख होता है । यहीं से वंश चलता है । विवाह के बाद स्त्रियाँ पति के घर आकर रहने लगती है । सम्पत्ति पर पति का पूरा अधिकार होता है ।

कुछ जनजातियों में बहुपत्नी तथा बहुपति विवाह भी देखने को मिलता है । नागा, गोंड बैगा तथा नेफा की डफला, जनजाति में बहुपत्नी विवाह देखने को मिलता है । ऐसे परिवारों में पुरूष उसकी स्त्रियाँ तथा अविवाहित बच्चे एक ही स्थान पर निवास करते हैं । कभी-कभी स्त्रियाँ अलग-अलग भी रहती हैं और ऐसी, स्थिति में पति सबसे बड़ी स्त्री के साथ रहता है, लेकिन वह दूसरी पत्नियों के साथ भी कभी-कभी रहता है । यहाँ पति की स्थिति ऊँची होती है परन्तु पत्नी को उसके अधीन होकर रहना पड़ता है ।

भारत की "तियान", "टोडा", 'कोटा", जानसर भाबर की "खस" जनजाति तथा लदाकी बौटा जनजाति में बहुपति विवाह पाया जाता है । टोडा जनजाति में एक पत्नी में कई भाईयों की साझेदारी होती है । सन्तान का पिता वह व्यक्ति समझा जाता है जो जनजाति द्वारा स्वीकृत संस्कार को पूरा करता है । कुछ जनजातियों में वधु-मूल्य की प्रथा पाई जाती है जो बहुत ज्यादा होती है, इसलिए कई पुरूष मिलकर एक ही स्त्री के साथ विवाह कर लेते हैं । ऐसे विवाह दक्षिणी भारत में इरावन के पिछड़े हुए सदस्यों तथा मलावार की शिल्पी जनजातियों में पाया जाता है ।

जनजातियों की संस्कृति में धर्म तथा जादू का भी महत्त्व पाया जाता है । इन लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर धर्म का प्रभाव काफी ज्यादा होता है । (मिरजापुर) सरगूजा जंगलों की कोखा जनजाति यह विश्वास करती है कि मनुष्य अपने आप को जानवर बना सकता है, उनके पूर्वज आज पत्थर, नदी तथा पेड़ बन गये हैं, तथा पौधे और जानवर मनुष्यों के साथ बात कर सकते है । संथाल जाति में धर्म का काफी प्रभाव रहा है । विभिन्न धार्मिक प्रकार्यों के लिए अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, जिन्हें अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया जाता है जैसे - ओखा, अंगुर, रेरेनिक व जनगुरू । प्राकृतिक कारणों से बीमार व्यक्ति का उपचार करने वाला व्यक्ति रेरेनिक कहलाता है । बीमार व्यक्ति जब ठीक नही हो पाता तो जनगुरू अथवा ओझा को बुलाया जाता है, जो जड़ी-बूटी के साथ जादुई शक्ति से बीमार व्यक्ति को ठीक करने का प्रयत्न करता है । मृत पूर्वजों की आस्थाओं पर भी यह लोग विश्वास करते हैं जिनकी ये पूजा करते हैं ।

भील जनजाति मृतात्माओं पर विश्वास करती हैं । वे यह मानते हैं कि मरने के बाद मृत व्यक्ति की आत्मा निवास स्थान के आस-पास ही मंडराती रहती है । जिनकी प्राकृतिक मृत्यु होती है तथा जिन्होंने अच्छा व सामान्य जीवन बिताना है, उनकी आत्मा सन्तुष्ट रहती है

और जो दुखी जीवन बीताकर असामयिक मौत प्राप्त करते हैं वे हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं । ये लोग देवी-देवताओं जैसे महादेव, राम, हनुमान व गणेश की पूजा करते हैं ।

जनजातियों के देवी-देवताओं में इष्टकर एवं हानिकर, दोनों ही प्रकार के देवी-देवता पाये जाते हैं । "पछावन" इष्टकर हैं, किन्तु "खड़गा" "भूत" (बुरी आत्मा) जो कि हानिकारक है, को प्रसन्न रखने के लिए पूजा जाता है । ग्राम देवताओं की भी वह पूजा करते हैं, गाँव से कुछ दूरी पर देवी "भूमसेन" की पीपल अथवा नीम के वृक्ष के नीचे स्थापना होती है, यह वाघभूत पर भी विश्वास करते हैं । यदि बाघ (चीता) किसी व्यक्ति को मार कर खा जाता है तो उसकी आत्मा की भी उपासना की जाती है । थारू जनजाति की स्त्रियाँ जादू-विद्या में भी निपुण होती हैं ।

डब्ला जनजाति के लोग बुरी आत्माओं तथा भूत-प्रेत में बहुत विश्वास करते हैं, साथ ही कई देवी-देवताओं की पूजा भी करते हैं । किसी भी बीमारी का कारण देवी-देवताओं के नाराज होने से लगाया जाता है ।

अण्डमान निकोबार में रहने वाली जनजातियाँ कई देवी-देवताओं तथा आत्माओं पर विश्वास करती है, जो वनों तालाबों तथा समुद्र मे निवास करती है । दक्षिणी अण्डमान में कुछ आसमान में निवास, करने वाली आत्माओं की पूजा की जाती है जिन्हें यह मोरूबा या मोरोबिन कहते हैं । यहाँ जब किसी पुरूष या स्त्री की मृत्यु हो जाती है तो यह विश्वास किया जाता है कि वह आत्मा बन जाती है । जंगलों तथा समुद्र में निवास करने वाली आत्माओं को यह अदृश्य मानते हैं । ये लोग रात को जोर से आवाज या सीटी की आवाज नहीं करते जिसका अर्थ वे आत्मा को जंगल से बुलाना समझते हैं । दूसरी ओर यह लोग इस पर विश्वास करते हैं कि आत्माएं संगीत की आवाज से दूर भागती हैं ।

उत्तर प्रदेश के मेषपाल हिन्दू धर्मावलंबी हैं तथा सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं । राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, हनुमान देव एवं काली, चंडी, लक्ष्मी देवियों की उपासना विशेष विधि विधान के साथ की जाती है । कुल देवी, कुल देवताओं, ग्राम देवताओं तथा "भूमियाँ" देवस्थलों की उपयुक्त अवसरों पर पूजा की जाती है । गाँवों में अंधविश्वास अधिक होने से जादू टोने में लोगों का अधिक विश्वास है । इलाज के लिए झाड़-फूँक करने वालों को भी बुलाया जाता है । जो लोग पशु भेड़-बकरी रखते हैं व पशुओं के आविष्कारों प्रेतों की शांति के लिए विभिन्न प्रकार के पूजन करते हैं । मृतकों को श्राद्ध दिये जाते हैं । ग्वालियर में एक विशेष जाख देवता की पूजा की जाती है । प्राय: रक्षा-बंधन के समय उसका पूजन होता है । इसकी पूजा झाड़ी तथा कुछ वृक्षों के पत्तों से की जाती है । यह वृक्ष देवता रक्षक के रूप में स्वीकार किया गया है । जनजातियों में पेड़-पौधों की पूजा का विधान है क्योंकि उन्हें रक्षक या भक्षक के रूप में माना जाता है । अत: उनके पीछे कुछ निषधों का निर्माण हुआ है । जाख देवता की पूजा भी कुछ इसी प्रकार के अजातीय अवशेषों का परिणाम लगती है । होली दीवाली पर पशुपालक समाज अनिष्ट से बचने, के लिए लंगरी देवता की पूजा करता है । इस धार्मिक कृत्य के लिए आटे का दीपक बनाया जाता है । उसमें शुद्ध घी डाला जाता है तथा किसी जंगल या तालाब के किनारे रख दिया जाता है । ऐसा विश्वास है कि इस विधान से उनके पशु स्वस्थ रहेंगे ।

कर्नाटक के कुरूबा जनजाति के लोग बड़े धर्म भीरू, सदाचारी और चरित्रनिष्ठ होते हैं । ये लोग दशहरा अथवा महानवमी बड़े धूमधाम से मनाते हैं । इस अवसर पर शस्त्र पूजा होती है तथा दुर्गाशक्ति की प्रतीक, काली देवी का विधिवत पूजन किया जाता है । दशहरे के त्यौहार पर सारे भारत के मेषपाल समाज में शस्त्र पूजा किसी न किसी रूप में अवश्य होती है ।

इस समाज में तंत्र-सम्प्रदाय का भी पूरा प्रभाव है । कर्नाटक में कई कुरूबा जादुई शक्ति वाले समझे जाते हैं । देवीपासक कुरूबा पर जब तंत्रीय प्रभाव होता है तो वह अपना सिर हिलाने लगता है । वह थकता नहीं और ट्रांस की अवस्था में लोगों के प्रश्नों का उत्तर देता जाता है । उसके सिर पर नारियल फोड़ा जाता है किन्तु उसे जरा भी चोट महसूस नहीं होती ।

हिमाचल प्रदेश के गद्दी जनजाति के लोग जिन्होंने हिन्दू धर्म का अनुसरण किया है इसको अपने जनजातीय सांचे में ही ढालकर रखा है । ये शिवजी के उपासक हैं, लेकिन इनकी पूजा कुछ अपने ही ढंग की है । इनके शिवजी संसार के जनक हैं तथा व्यक्ति को सुख शान्ति प्रदान करते हैं । गद्दियों के देवता भी भेड़-बकरी खाने के शौकीन हैं । गद्दी लोग भी प्राकृतिक स्थानों में बसने वाले तथाकथित प्रेतात्माओं में विश्वास रखते हैं । इनके लिए बकरी की बलि चढ़ाई जाती है । कुछ अवतार काली बकरी पसद करते हैं तो कुछ काले सिर वाले सफेद बकरी के बच्चे खाने के शौकीन हैं और सिद्ध जी भेड़ के बच्चों को कच्चा चबाने में माहिर हैं । बंजर खेत में जब पहली बार हल चलाया जाता है, तो यह जरूरी है कि पुरोहित पूजा करे तथा एक बकरी काटी जाये । जब किसी मकान की नंवी रखी जाती है तो पूजा के साथ-साथ एक भेड़ या बकरी की बलि दी जाती है । बालक के जन्म तथा विवाह के अवसरों पर पशु को काटकर खुशी मनाई जाती है । यात्रा आरम्भ करने से पूर्व देवता को एक बकरे की बलि दी जाती है ।

राजस्थान की गिरासीया जनजाति के बारे में कहा जाता है कि ये लोग ज्यादातर सिरोही उदयपुर पाली डूँगरपुर आदि क्षेत्रों मे रहते हैं । वे अपने आप को शिवजी (भगवान शिव) के वंशज मानते हैं । वे अपने धर्म को कई प्रकार के देवी-देवताओं, विश्वासों, तथा भूत-प्रेतों के द्वारा सम्बोधित करते हैं । यह लोग हनुमान जी की पूजा उतनी ही भक्ति से करते हैं जितनी कि वे काला तथा गौरा भैरूजियों की करते हैं । गौरा भेरूजी की पूजा यह लोग फल, मिठाई तथा अनाज से करते हैं । काला भैंरूजी की पूजा केवल खून, शराब तथा मांस के द्वारा करते हैं । गिरासियों में प्रेतों की गोबरू (दुष्ट) तथा भेल्लों (अच्छा) के रूपों में देखा जाता है । गोबरू प्रेतों का जादूगर के साथ निकट का सम्बन्ध होता है और जादूगर का दुष्ट आत्माओं से जादुई शक्ति प्राप्त होती है । भेल्लों प्रेत मनुष्य की हानियों से बचाता है तथा गोबरू प्रेतों के प्रभाव से भी बचाता है ।

मीणा जनजाति जो कि राजस्थान में पाई जाती है जादू-टोने पर विश्वास करती है । यह लोग भी दो प्रकार की जादुई क्रियाओं पर भरोसा करते हैं । जो जादुई क्रिया अच्छाई के लिए की जाती है उससे बीमारी दूर हो सकती है । नजर को मिटाया जा सकता है तथा बिच्छू के डंक को भी मंत्र द्वारा उतारा जा सकता है । साँप के काटने के बाद जादू द्वारा इलाज किया जाता है । तेजाजी देवता के नाम का गंडा बाँध दिया जाता है ताकि जहर ऊपर न चढ़े । देवता के स्थान पर गाय की पूँछ के बाल की रस्सी, होती है जिसके एक कोने को वहाँ बाँधा जाता है और दूसरे को जादूगर अपने मुंह में लेकर जहर को खींचता है । इस तरह जहर खून

के साथ निकलता चला जाता है और वह आदमी ठीक हो जाता है । गाँव मे जब किसी से दुश्मनी हो जाती है तो जादू के द्वारा उसे नुकसान पहुँचाया जाता है । इन लोगों में भोमियाजी की भी पूजा की जाती है । गाँव के किसी विख्यात आदमी की मृत्यु के बाद उसकी मूर्ति बनाकर गाँव के बाहर रख दी जाती है । लोग इनकी पूजा करते हैं ।

14.5 भारतीय ग्रामीण मान्यताएं

भारतीय ग्रामीण संस्कृति एक ऐसी अद्भुत संस्कृति है जहाँ कई विशिष्टताएं देखने को मिलती हैं । जहाँ परस्पर मिलकर एकजुट होकर कार्य करने या संकट झेलने की इच्छा दृष्टिगत होती है । डी. एम.एन. श्रीनिवास ने मैसूर के पास रामपुरा गाँव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बहुत पहले जब इस गाँव पर हैजा (कोलेरा) की महामारी (प्लेग) या बड़ी माता (स्मॉल पोक्स) का आक्रमण हुआ था तो पूरा गाँव एक होकर कार्य करने लगा था और बाद में एक दूसरे क्षेत्र में जाकर कुछ समय के लिए बस गया था । सब एक होकर उन्हीं देवी-देवताओं की पूजा करते थे जो इन्हें ऐसी बीमारियों से मुक्ति दिला सकें । इन बीमारियों को उन्होंने अपनी पूजा अराधना द्वारा ही भगाया है इसलिए गाँव की सीमा के साथ कुछ धार्मिक महत्त्व जुड़े हुए हैं ।

गाँव की प्रत्येक जाति का अपने-अपने औजारों तथा उपकरणों के प्रति या अपने व्यवसाय के सामानों के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण होता है । जब गौरी (पार्वती-शिवजी की पत्नी) का सालाना उत्सव मनाया जाता है तब प्रत्येक जाति अपने औजारों की पूजा करते हैं । किताबों को देवी सरस्वती के साथ जोड़ा जाता है । जिसे ज्ञान की देवी कहा जाता है तथा सब किताबों को धार्मिक आदर देते हैं । ब्राह्मण दशहरे के मौके पर ही किताबों की पूजा करते हैं । दशहरे के दिनों में स्कूलों में भी सरस्वती पूजा की जाती है । यह पूरा समुदाय जिसमें कई प्रकार की जातियाँ मिलती हैं । धरती को धरती माता के नाम से पूजती हैं और अनाज तथा खाद को "लक्ष्मी" मानती हैं जो धन-दौलत की देवी है । घर की द्वीप अन्न-भण्डार तथा अन्न नापने की चीज को भी धार्मिक सम्मान दिया जाता है ।

श्रीनिवास ने यह भी देखा कि इस गाँव में ब्राहमण तथा लिगायत परम्परागत ब्राहमण जातियाँ हैं जो वास्तव में पुजारी होते हैं परन्तु पूजा के कार्य के साथ-साथ वे लोग कृषि तथा महाजनी का काम भी करते हैं । लिंगायत पुजारी केवल शिव मन्दिरों के ही पुजारी होते हैं । ऐसे मंदिरों में जहाँ ब्राहमण पुजारी का कार्य करता है, लिंगायत प्रवेश नहीं कर सकता और जहाँ लिंगायत पुजारी का कार्य करता है ब्राहमण प्रवेश नहीं कर सकता । लिंगायत पुरोहित केवल लिंगायत के घर ही जन्म, विवाह तथा दूसरे संस्कारों को पूरा करने जाता है परन्तु ब्राहमण किसी भी ऊँची जाति के लोगों के घर पूजा कर सकता है ।

कुर्ग प्रदेश जो कि कर्नाटक के दक्षिण में स्थित है के लोगों के बारे में एम.एन. श्रीनिवास ने अध्ययन किया है । इन लोगों की संस्कृति तथा धार्मिक रीति-रिवाज अलग प्रकार की पाई गई है । सारे धार्मिक कार्यों को "मंगता" कहा जाता है । जब एक लड़का वयस्क काल में प्रवेश करता है तो उसके कान सुनार द्वारा छिदवाये जाते हैं तथा उनमें बालियाँ पहना दी जाती हैं । यही लड़के केवल धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भाग ले सकते हैं । यहाँ यह

समझा जाता है कि एक अविवाहित पुरूष की एक विवाहित पुरूष की अपेक्षा, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति हमेशा नीची होती है । अविवाहित व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके शव को जलाने या गाढ़ने के पहले, मंगता का कार्य किया जाता है ताकि उस व्यक्ति की आत्मा की स्थिति ऊँची हो जाए । इसी तरह एक व्यक्ति की यदि दो पत्नियों की लगातार मृत्यु हो जाती है तो उसकी तीसरी शादी होने से पूर्व, उसका विवाह एक केले के पेड़ से करा दिया जाता है । ऐसे केले के पेड़ से विवाह को "बालक मंगता" या "केला मंगता" कहा जाता है । मंगता के तुरन्त बाद ही उस पेड़ को काट दिया जाता है । दक्षिण भारत में तीन अंक को अशुभ समझा जाता है, इसलिए जब एक व्यक्ति तीसरी बार विवाह करना चाहता है तब उसके अशुभ समय को समाप्त करने के लिए केला मंगता किया जाता है । इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति नया घर बनवाता है तो "माने-मंगता" या "घर मंगता" किया जाता है ।

इन लोगों की संस्कृति में धार्मिक रूप से शुद्ध तथा अशुद्धता की धारणाएं पाई जाती हैं । यहाँ किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर घर दूषित हो जाता है । जिस दिन 'शोक' पूरा होता है उसी दिन से दूषण समाप्त होता है । जब कोई व्यक्ति धार्मिक रूप से अशुद्ध परिस्थिति में होता है तब वह अपनी ऊँगलियों से जीभ या दाँतों को छू नहीं सकता । खाना बनाते समय कोई भी स्त्री मुँह में उंगली नहीं डाल सकती । खाना खाते समय यदि व्यक्ति अपने झूंठे हाथों से सब्जी की कटोरी को छू लेता है तो सारी सब्जी झूठी समझी जाने लगती है और फिर दूसरा कोई भी उसे नहीं खाता । कटे हुए नाखूनों तथा बालों को अशुद्ध समझा जाता है इसलिए उन्हें घर के बाहर फैंक दिया जाता है ।

मैक्मि मैरियट ने उतर प्रदेश के किशनगढ़ी गाँव का अध्ययन करने के बाद बताया कि यहाँ हिन्दुओं के अलग-अलग त्यौहारों को प्रत्येक महीने या सालाना मनाया जाता है जिसके कारण लोगों को एक दूसरे से मिलने का मौका मिलता है । होली-दीपावली के मौके पर पशु बली दी जाती है ।

बंगाल के एक गाँव का अध्ययन करने के बाद नवोतिर्मय शर्मा ने बताया कि यहाँ प्रत्येक ब्राह्मण परिवार के घर में एक कमरा अलग से पूजा के लिए बनाया जाता है जिसमें परिवार के पहले बुजुर्ग व्यक्ति के द्वारा एक देवी की मूर्ति की स्थापना की जाती है । यही देवी पूरे घर के लोगों को एकता के बन्धन मे बाँध के रखती है, परिवार का विभाजन होने के बाद भी परिवार के सभी सदस्य पूजा के खर्च को बराबर बाँट लेते हैं । प्रत्येक घर में सितम्बर, जनवरी तथा मार्च के महीनों में, लक्ष्मी देवी की पूजा की जाती है । ग्रामीण बंगाल में कई प्रकार के धार्मिक उत्सव मनाये जाते हैं । शरद ऋतु के महीने में दुर्गा-पूजा का उत्सव मनाया जाता है । दुर्गा-पूजा को ऊँची जाति का उत्सव माना जाता है जिसे प्राचीन समय में केवल राजा तथा जमींदार लोग ही मनाते थे । गाँव में "नबन्ना' कटाई का उत्सव भी मनाया जाता है । दिसम्बर के महीने में एक शुभ दिन को गाँव के सभी बड़े बुजुर्ग नये चावल को देवी को चढाते हैं और फिर सब उसे खाते हैं । पौश पर्वना का उत्सव भी कटाई के मौसम से जुड़ा हुआ है । इसे जनवरी के आखिरी दिन को मनाया जाता है, जहाँ लक्ष्मी देवी की पूजा की जाती है । "गजन" ग्रामीण बंगाल का एक और उत्सव है जिसे लोग बंगाली साल के आखिरी दिन मनाते

हैं (जैसे - तेरह अप्रैल को) । इस दिन शिव जी की पूजा की जाती है जो संसार के वैभव तथा दिखावे को पसन्द नहीं करता है।

14.6 भारत की शहरीय मान्यताएं

भारत की शहरी सामाजिक व्यवस्था ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के विपरीत है । शहरों में अलग-अलग संस्कृतियों में अन्त: क्रिया होती है जिससे प्रत्येक संस्कृति थोड़ी बहुत बदलने लगती है । यहाँ संस्कृतियों तथा विचारों और विश्वासों में विभिन्नताएं पाई जाती है । शहर की संस्कृति में एक मुख्य बात यह देखने को मिलती है कि यहाँ व्यक्ति के व्यवहार को केवल पुलिस या कानून द्वारा नियन्त्रित रखा जा सकता है । यहाँ जाति या परिवार का व्यक्ति के ऊपर पूरा नियन्त्रण नहीं हो सकता । शहरों में व्यक्ति केवल कानून से घबराता है ।

भारत के प्रत्येक शहर में व्यक्ति को एक ऊँची सामाजिक परिस्थिति उसके शिक्षा कार्य या धन के आधार पर प्राप्त होती है । यहाँ जाति के आधार पर व्यक्ति को किसी भी प्रकार की प्रसिद्धि नहीं मिलती । गाँव को एक नीची जाति का व्यक्ति भी शहर में पढ़-लिखकर, धन कमाकर, एक बड़ा व्यक्ति बन सकता है । आदमी जितना चाहे वह सामाजिक स्तरीकरण की इस व्यवस्था में ऊँचा उठ सकता है । शिक्षा ने ही महिलाओं को आगे बढ़ने में मदद की है और शिक्षित स्त्री-पुरूष अपने पुराने विचारों तथा रहने के तरीकों को छोड़कर नये विचारों तथा व्यवहार करने के तरीकों को अपना रहे हैं । शहरों के महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में स्त्री-पुरूष एक साथ, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हो उठते-बैठते हैं और अध्ययन करते है । नये-नये सामाजिक परिवर्तनों को शहरवासियों ने जल्दी अपना लिया है । शहरवासी एक अपना ही अलग व्यक्तित्व तैयार कर लेते हैं । उसके विचार, मान्यताएं, व्यवहार करने के तरीके अपनी ही इच्छा के अनुसार करते हैं । उनके सामने पुरानी मान्यताएँ या प्रथाएँ सब बेकार नजर आती हैं । वह अपनी जिन्दगी के बारे में स्वयं सोचता है और उसे अपनी इच्छा से ढालने का प्रयत्न करता है ।

शहरों में सामुदायिक भावना की कमी देखने को मिलती है । परिवार के सदस्यों में एकता तथा अखण्डता जैसी कोई चीज नजर ही नहीं आती । व्यक्ति अपने ही उद्देश्यों को सामने रखकर कार्य करता चला जाता है । वह परिवार के बारे में सोचने की कोशिश ही नहीं करता । इसी व्यक्तिवादिता के कारण संयुक्त परिवारों में विभाजन होता जा रहा है । आज का शहरीय व्यक्ति अपनी पत्नी तथा अविवाहित बच्चों के साथ ही रहना पसन्द करता है । माता-पिता तथा भाई बहनों के साथ उसका रिश्ता द्वितीयक होता जा रहा है ।

शहरों में लोगों के नैतिक मूल्यों का भी पतन हो रहा है । शहरों के दिखावे के कारण व्यक्ति अपनी नैतिकता को भूल जाता है । अपनी ऊँची स्थिति को बनाये रखने के लिए व्यक्ति गैर सामाजिक तथा गैर कानूनी कार्यों को अपनाने लगा है । उसके चरित्र पर चलचित्रों का प्रभाव अत्यन्त भयानक रूप से पड़ रहा है । वह उनको देखकर अपने सीधे सादे जीने के तरीकों को छोड़कर दिखावे की दुनियाँ में फँसता चला जा रहा है । शहरों में अलग-अलग वर्गों के बीच में तनाव तथा तकरार देखने को मिलते हैं । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे वर्ग से ऊपर उठने की कोशिश करता है । इसी संघर्ष का प्रभाव व्यक्ति के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य पर

पड़ता है । इसलिए कहा जाता है कि शहरीय समाज एक टूटा समाज है जहाँ व्यक्ति की टूटी जिन्दगी में केवल तनाव तथा संघर्ष ही पाया जाता है । शहरों में विवाह के प्राचीन तरीके तथा रीति-रिवाज परिवर्तन की दिशा की ओर बढ़ रहे हैं । यहाँ लड़का-लड़की स्वयं भी अपने साथी का चुनाव कर लेते हैं । उस अवस्था में माता-पिता तथा घर के बड़े बुजुर्गों की विवाह में परम्परागत भूमिका धीरे-धीरे समाप्त होती नजर आ रही है । शादियाँ भी कोर्ट में होने लग गयी हैं । पुराने रस्म रिवाज आज केवल मात्र गाँव की सीमा के अन्दर तक ही रह गए हैं ।

समाजशास्त्री कहते हैं कि शहर की जिन्दगी के अपने कुछ प्रभाव है तथा दबाव होते हैं और मनुष्य की रोज की दिनचर्या, उसके रहने के स्थान तथा खाने की मात्रा के ऊपर, उसकी जाति या धर्म के बजाय, उसकी नौकरी का ज्यादा प्रभाव पड़ता है । यह सारी बातें उस समय सच होती दिखती है जब व्यक्ति का शहर ज्यादा औद्योगिक हो । इससे भी ज्यादा प्रभावित वे लोग होते हैं जो गाँव को छोड़कर शहरों की ओर भागे चले आते हैं, तथा जाति व रिश्तेदारों के दबाव से मुक्त होना चाहते हैं । वे केवल अपने शहर के साथियों तथा पड़ौसियो के द्वारा बनाये गये प्रतिमानों का पालन करना चाहते हैं । 1930 में मैसूर के ब्राह्मण कॉफी पीने कॉफी की दुकानों में नहीं जाते थे, चाहे वहाँ ब्राह्मण ही क्यों न कॉफी बनाता हो । आज प्रत्येक कॉफी की दुकान पर एक कमरा ब्राह्मणों के लिए अलग रखा जाता है । आजकल के पढ़े-लिखे ग्राहक कॉफी की दुकानों में सफाई के बारे में चिन्तित रहते हैं न कि जाति के बारे में । शिक्षा के प्रसार के कारण आज की जनसंख्या के प्रत्येक वर्ग में, केवल सफाई व स्वास्थ्य नियमों पर ध्यान दिया जाता है न कि प्राचीन शुद्धता के विचारों पर । शिक्षित हिन्दू केवल परम्परागत व्यवहारों का तार्किकीकरण करते हुए पाया जाता है । उसके अनुसार शुद्ध स्वास्थ्य विज्ञान से ज्यादा कुछ भी नहीं है और इसके साथ धार्मिक व्यवहार इसलिए जोड़ दिया गया था ताकि व्यक्ति इसके बारे में सतर्क रहे । प्राचीन काल में महिलाएं दूषण के बारे में बहुत चिन्तित रहती थी, लेकिन आज महिलाएं रसोई घर के दूषण से ज्यादा स्वास्थ्य विज्ञान व पौष्टिकता पर ध्यान देती हैं । कुछ औरतें जब अपने सास-ससुर या माता-पिता के साथ रहती हैं तभी वे दूषण के नियमों का पालन करती है ।

दूसरा क्षेत्र जो प्रभावित हुआ है, वह है धार्मिक संस्कार कई धार्मिक अनुष्ठान जैसे नामकरण संस्कार और सालाना जनेऊ को बदलना (उपकर्मा) आजकल समाप्त होते नजर आ रहे हैं । कई वर्षों पहले तक लड़कियों के यौवनागम को धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा मनाया जाता था । पति की मृत्यु के बाद ब्राह्मण विधवा के सर को मुंडवा देने की प्रथा भी लगभग समाप्त होती जा रही हैं । आजकल तो पढ़ी-लिखी विधवाएं दूसरी शादी के लिए भी इन्कार नहीं करती । विवाह के धार्मिक अनुष्ठान भी छोटे होते जा रहे हैं । पहले ब्राह्मणों की शादी 5-7 दिनों तक चलती थी । आजकल सारे अनुष्ठान एक या दो दिन में समाप्त कर दिये जाते हैं । कन्यादान तथा सप्तपदी जैसे धार्मिक कृत्यों को देखने केवल रिश्तेदार ही आते हैं और बाकी दूसरे मेहमान विदाई में खाना खाकर चले जाते हैं । विवाह की आयु के बढ़ने से भी लड़कियों को आजकल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिल रहे हैं ।

प्राचीन काल में छोटी लड़कियाँ केवल रसोई में माँ के आस-पास घूमती रहती थी जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था । उसके लिए केवल रसोई सम्बन्धी ज्ञान ही आवश्यक होता था । शिक्षा ने ही लड़कियों को नये विचार तथा आशाएं दी हैं । इसी के कारण वे अपने दूषण के नियमों को तथा धार्मिक अनुष्ठानों को बदल पाई है ।

हमारे मांगलिक प्रतीक

प्रत्येक मनुष्य जीवन में सदैव सौभाग्य, सुख, सफलता व सम्पन्नता की आकांक्षा करता है । भारतीय परम्पराओं में सुमंगल की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए मांगलिक चिन्हों की स्थापना की है । शनैः-शनैः आठ शुभ प्रतीकों का एक मंडल बना जिसे सामूहिक रूप से आठ-मांगलिक कहा गया, जो निम्न प्रकार से है-

स्वास्तिक - भारत ही नहीं विश्व की विभिन्न सभ्यताओं में सर्वाधिक प्राचीन व श्रेष्ठ मानसिक चिन्ह स्वास्तिक - सूर्य का प्रतीक था तथा जीवन के स्वास्ति भाव या कल्याण का सूचक रहा था । स्वास्तिक शब्द 'सु+अस+क' से बना है । जिसमें 'सु' का अर्थ 'अच्छा', 'अस' का अर्थ 'अस्तित्व' अथवा 'सत्ता' तथा 'क' का तात्पर्य 'कर्त्ता' से है । अर्थात् इसका अर्थ बना 'अच्छा' या 'मंगल' करने वाला । स्वास्तिक शब्द में किसी व्यक्ति विशेष का नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण या 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना निहित है ।

स्वास्तिक में एक दूसरे को काटती हुई दो सीधी रेखाएं होती है, जो आगे चलकर फिर से जुड़ जाती हैं । इसके बाद भी वे रेखाऐं अपने सिरों पर थोडी और मुडी होती हैं । स्वास्तिक के चारों ओर लगाये गये बिन्दुओं को चार दिशाओं का प्रतीक माना जाता है । स्वास्तिक की दो मुख्य रेखाऐं पुरूष एवं प्रकृति की प्रतीक हैं । भारतीय संस्कृति में स्वास्तिक चिन्ह को विष्णु, सूर्य, सृष्टि चक्र तथा सम्पूर्ण ब्रहमाण्ड का प्रतीक माना गया हे । आगे चलकर श्री गणेश का नाम भी इसमें जुड़ गया है । पुराणों में इसे सुदर्शन चक्र का प्रतीक माना गया है । यास्काचार्य ने इसे ब्रह्म का ही स्वरूप समझा है । स्वास्तिक की भुजाओं को कहीं चार वेद तो कहीं धनात्मक चिन्ह स्वीकारा है ।

हमारे जनजीवन में मांगलिक प्रतीकों मे स्वास्तिक एक ऐसा चिन्ह है जो अत्यन्त प्राचीन काल से लगभग सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों से जुड़ा रहा है । भारत में भी इसकी जड़ें गहरी फैली हुई हैं । विदेशों में भी स्वास्तिक को शुभ और विजय का चिन्ह समझा जाता है । सिन्धु घाटी से प्राप्त उपकरणों पर स्वास्तिक की आकृतियाँ खुदी मिली हैं । मत्स्य पुराण में मांगलिक प्रतीक के रूप में इसकी चर्चा की गई है । पाली भाषा में इसे साखी या साकी कहा गया है और आज भी भारत के अनेक भागों में इसे इसी नाम से सम्बोधित किया जाता है । जैन परम्परा में हमें श्रेष्ठ मंगल प्रतीक कहा गया है । महात्मा बुद्ध की मूर्तियों पर भी इसे अंकित किया गया है । यूनान एवं साइप्रस में की गयी खुदाइयों में जो मिट्टी के बर्तन मिले हैं, उनमें भी यह चिन्ह मिला है । आस्ट्रीया के राष्ट्रीय संग्रहालय में 'अपोलो' की प्रतिमा पर स्वास्तिक चिन्ह अंकित है । रेड इण्डियन स्वास्तिक को सुख और सौभाग्य का प्रतीक समझते हैं ।

मंगल घटा - पत्र पुष्पों से अलंकृत व जल से भरा घड़ा वैदिक काल से आज तक श्रेष्ठ मंगल प्रतीक समझा गया है । पूर्ण कुम्भ, भद्रकलश आदि सम्बोधनों से युक्त यह मांगलिक चिन्ह

सम्पूर्णता, सुमंगल, समृद्धि व सम्पन्नता का सूचक है । सृष्टि का सृजन जल से होने के कारण यहाँ जल ब्रह्माण्ड की सर्जना का प्रतीक समझा गया है । इसी कारण जल से भरा घट ही केवल मंगल घट होता है व आन्ध्रपल्लव लगने से वह पूर्णाहार बनता हे । आम एक सदाबहार वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ निकलने के बाद जीवन की निरन्तरता का बोध कराती है । यही कारण है कि मृत्यु होने की दशा में जीवन की समाप्ति के प्रतीकात्मक अर्थ के रूप में 'घट' को फोड़ दिया जाता है । इसके अतिरिक्त घर को भी 'मंगल घट' कहा जाता है व किसी भी धार्मिक अनुष्ठान में सर्वप्रथम 'मंगल घट' की ही ब्रहमा, विष्णु व महेश के रूप में पूजा की जाती है।

कमल - भारतीय चिन्तन में कमल के इतने अर्थ हैं कि यदि इसे भारतीय संस्कृति का विश्वकोष भी कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । कमल सदैव ही सूर्य की ओर उन्मुख होकर ही उसके प्रकाश में खिलता है । सूर्य अगर ब्रहम का रूप हे तो कमल प्राण का । उपनिषद में लिखा है कि “आदित्य तवें प्राणी” । कमल की सृष्टि का प्रतीक समझा जाता है । भगवान विष्णु की नाभि से कमल का उत्पन्न होना एवं उस पर ब्रहम जी का बैठकर सृष्टि का सर्जन करना कमल की महत्ता स्वयं सिद्ध होती है । असीरिया व सुमेरिया की संस्कृति में भी कमल की महत्ता है । बौद्ध धर्म में तो कमल सर्वत्र छाया हुआ है । बौद्ध कथ 'ललित विस्तार' से इसे अष्टमंगल कहा गया हे । कला के क्षेत्र में तो कमल सदैव ही प्राथमिकता के साथ मंगल रूप में स्वीकार किया गया है । मुगल स्थापत्य कला में भी कमल सर्वोच्चता से उभरकर सामने आया है । यह कीचड़ में भी उत्पन्न होकर निर्मल रहता है । इसी कारण इसे सुचिता, निर्मलता, पवित्रता तथा अपने गुणों के फलस्वरूप आध्यात्मिकता व ज्योतिर्मय प्रकाश की अभिव्यक्ति के रूप में पहचाना जाता है ।

पंचागुलक - पंचागुलक के प्रतीक के रूप में पाँच की संख्या का बहुत महत्व है । इसी का प्रतिनिधित्व दाहिने हाथ की पाँच अंगुलियाँ करती हैं व उसकी छाप को पंचागुलक कहकर मांगलिक माना जाता है । यह तो विख्यात ही है कि पंच तत्वों (वायु, अग्नि, जल, आकाश एवं पृथ्वी) से शरीर का निर्माण होता है और मृत्यु के पश्चात् ये तत्व पुन: स्वतन्त्र एवं प्राकृतिक अवस्था में आ जाते हैं । मृतक के दाह संस्कार के पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ नष्ट नहीं होती जो इन मूलभूत पंच तत्वों की निरन्तरता अनश्रृरता का द्योतक है । यही कारण है कि समाज व व्यक्ति के जीवन के अनेक मांगलिक अवसरों जैसे, गृह प्रवेश, विवाह व पुत्र जन्म पर हल्दी व चावल की पीढ़ी से पंचागुलक दीवारों पर छापने की परम्परा है ।

पंचागुलक में हाथ की कर्म के रूप में महत्ता है । हमारे जीवन की सभी गतिविधियाँ चाहे वह जीविकोपार्जन की हो अथवा किसी धार्मिक अनुष्ठान की, सभी हाथ के द्वारा ही सम्भव है । देवताओं की अभयमुद्रा का भी यही रूप है । बौद्ध धर्म में तो भगवान बुद्ध की विभिन्न मनोदशाओं व महत्त्वपूर्ण घटनाओं को हस्त मुद्राओं से ही दिखाया गया हे । इसके अतिरिक्त पाँच अंक का महत्व भारतीय ही नहीं बल्कि विश्व की अनेक संस्कृतियों में भी विशेष है । सिक्ख धर्म में खालसा के रूप में पंजप्यारों का विशिष्ट स्थान व प्रभाव है । इस्लाम में हजरत अली का पंजा 'अतन' इस मांगलिक चिन्ह की लोकप्रियता का साक्षी है ।

श्री वत्स - भगवान विष्णु के व जैन तीर्थंकरों के वक्षस्थलों तथा गौतम बुद्ध के चरणों को सुशोभित करने वाला यह चिन्ह भारत के अनेक धर्मों व सम्प्रदायों में अष्टमांगलिक प्रतीक माना गया है । वैसे श्री-वत्स का अर्थ है श्री का पुत्र । अत: लक्ष्मी का पुत्र. होने के कारण यह भी सुख, समृद्धि व सम्पन्नता का द्योतक हैं । यह चिन्ह समय के साथ-साथ महापुरूष लक्षण में परिवर्तित हो गया । श्री वत्स की आकृति एक छोटी सी मानव मूर्ति के समान थी जो अलग-अलग समय में विभिन्न रूपों मे दिखायी गयी । जैसे कभी नाग-मिथुन के रूप में तो कभी चतुर्दल पुष्प के रूप में । इस चिन्ह की एक और विशेषता यह है कि इसका स्वास्तिक के साथ युग्म सा है । इसके अंकन का विशेष महत्व रहा है । वाणी द्वारा जो स्वास्तिवाचन किया जाता था वही कला में 'स्वास्ति श्री' कहलाया । यह प्रतीक सार्वभौमिक कल्याण व मांगलिक भावनाओं का द्योतक बना।

शंख - पंचमहाभूतों मे आकाश तत्व का प्रतीक - शंख भी जलसंभवा है। आकाश से ही नाद या ध्वनि का जन्म हुआ जिससे फिर अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। इसके अतिरिक्त यह प्राचुर्य व निधि का भी प्रतीक है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार शंख दो प्रकार के होते हैं - दक्षिणावर्ती एवं वामावर्ती । इनमें से दक्षिणावर्ती शंख बहुत ही दुर्लभ हैं व धार्मिक अनुष्ठानों के लिये शुभ माना जाता है । यह भी कहा जाता है कि इसकी ध्वनि जीवाणुनाशक है । महाभारत की गाथाओं से विदित होता है कि युद्ध से पूर्व अपनी युद्ध इच्छाओं को व्यक्त करने के लिए योद्धागण शंखनाद किया करते थे ।

मीनयुग्म - शोभा सौभाग्य व सफलता के लिए एक अच्छे शकुन के रूप में दो मछलियों का युग्म एक प्रतिस्थित मांगलिक प्रतीक है । इसी कारण लोग घरों के दरवाजों पर मत्स्य युग्म अंकित करवाते हैं । ताकि इस प्रतीक का एक अच्छे शकुन के रूप में सदैव देख सकें । पुराणों में भगवान विष्णु का प्रथम अवतार 'मीन' के रूप में ही दिखाया है । प्रलयकाल में इसी ने नाव के रूप में मनु व सृष्टि की रक्षा की थी । आश्चर्य यह है कि इसी से मिलती-जुलती गाथाएँ अनेक प्राचीन संस्कृतियों में भी ज्ञात होती है । कला में भी मीन युग्म लगभग सभी प्राचीन संस्कृतियों में दृष्टिगत होता है । हड़प्पा सभ्यता की मोहरों में व साँची के स्तूप मे इसे देखा जा सकता है । स्त्रियों के कानों में भी मत्स्य कुण्डलों का इसके मांगलिक स्वरूप का ही द्योतक है ।

चक्र - गति व काल के प्रतीक के रूप में 'चक्र' का ही बोध कराया जाता है । सृजन, पालन व संहार यही चक्र अनवरत रूप से चल रहा है । चक्र के दो भाग हैं, केन्द्र एवं परिधि । दोनों क्रमश: विश्राम और गति, एकता व अनेकता, जड़ व चेतन इन सबमें समन्वय व सामंजस्य को प्रदर्शित करते हैं । वृहदराण्यक उपनिषद (2.5.15) में तो संसार व जीवन की तुलना भी केन्द्र व परिधि रूप चक्र में ही की गयी है । बौद्ध धर्म मे तो भगवान बुद्ध का सारनाथ में दिया गया उपदेश धर्मचक्र परिवर्तन कहलाया । जैन धर्म में यह मान्यता है कि कैवल्य प्राप्त होने पर धर्म चक्र आगे चलता है । रूचिकर बात यह है कि हड़प्पा सभ्यता कालीन यह प्रतीक भारत के राष्ट्रीय ध्वज के मध्य में भी स्थित है । यह परम्पराओं की जीवंतता का प्रतीक है ।

14.7 सारांश

मानव संस्कृति एवं परम्पराओं का धारक, निर्माता एवं संवर्द्धन है । मानव ने अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों में निरन्तर विकास किया है और प्रकृति पर अधिक से अधिक नियन्त्रण कर उसी गुत्थियों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है । संस्कृति इसी समझ व प्रयास के कारण विभिन्न स्थलों पर वहाँ की भौगोलिक एवं पर्यावरणी अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में पृथक-पृथक विशेषताओं को लेकर विकसित हुई है । इन्हीं विशेषताओं ने दो संस्कृतियों के मध्य विभेद भी उत्पन्न किया है । इन भेदों को हम मानव की जीवनशैली, भाषा, सामाजिक प्रतिमान तथा मान्यताओं के आधार पर व्यक्त कर सकते हैं । जहाँ तक मान्यताओं में धार्मिक मान्यताओं एवं आस्थाओं का प्रश्न है, स्पष्ट एवं स्वीकारी हुई है । परन्तु लौकिक मान्यताओं अथवा सामाजिक मान्यताओं के पीछे एक ऐसी मान्यता और छिपी रहती है । जिसके बारे में कम ज्ञान रहता है । अत: हमे मान्यताओं की अवधारणाओं को एक विशिष्ट समय या समाज के संदर्भ में समझना चाहिये । मान्यताएं विश्वास पर चलती हैं । मान्यताएं संस्कृति का ही भाग होती हैं । यहाँ हम संस्कृति को मानसिक, नैतिक, भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजकीय, कलात्मक अथवा सारांश में मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में सीखे हुए व्यवहार, प्रकारों की समग्रता कह सकते हैं ।

भारतीय मान्यताओं का एक उज्ज्वल पक्ष यह है कि इसकी ऐतिहासिकता व निरन्तरता दोनों समृद्ध है । भारतीयों का चिन्तन उच्च आध्यात्मिकता तथा भय सूचक उपदेवताओं दोनों से ही प्रभावित रहा है । इन्हीं बिम्बों ने आगे चलकर मूर्ति पूजा का स्वरूप धारण करके शनैः-शनै: संस्थागत रूप भी धारण कर लिया था । जनजातियों की मान्यताएं प्रकृति व भय प्रदान करने वाली शक्तियों की उपासना की पद्धतियों के इर्द-गिर्द अधिकांशत: घूमती रही है । इनकी सामाजिक मान्यताओं की धारणा इनके समाज के स्वरूप जैसे - मातृ सत्तात्मक, पितृ सत्तात्मक, बहुपति, बहुपत्नी, संयुक्त परिवार आदि से प्रभावित होकर निर्मित हुआ है । भारत की कृषि प्रधान ग्रामीण समाज की मान्यताएं भी भय-सूचकों से प्रभावित रही हैं परन्तु साथ ही साथ उत्पादन के विभिन्न पक्षों एवं स्थायी जीवन की इच्छा से भी निर्मित हुई है । ग्रामीण समाज की मान्यताओं में सामूहिक कार्य दायित्व की प्रेरणा के बीच का तत्व भी सक्रिय है । मेले व त्यौहार भी इन्हीं भावनाओं का एक विस्तृत रूप है । चूँकि जाति-व्यवस्था भी शनैः-शनै: सम्पत्ति व व्यवसाय पर वंशानुगत अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए कठोर होती चली गयी हैं इस कारण सामूहिकता का अर्थ भी बदलने लगा था फिर भी सार्वजनिक जीवन का अपना एक महत्व था इस कारण सामूहिक व सार्वजनिक मान्यताओं का भेद होने लगा । शहरों में अलग-अलग संस्कृतियों में अन्तःक्रिया होती है । जिसमें प्रत्येक संस्कृति बदलने लगती है । शहर की संस्कृति में एक मुख्य बात यह भी देखने में आती है कि यहाँ के व्यक्ति का व्यवहार पुरानी मान्यताओं के स्थान पर पुलिस तथा लिखित कानून द्वारा अधिक दिग्दर्शित होता है । शहरों में सामुदायिक भावना की कमी देखने को मिलती है । परिवार के सदस्यों में भी एकता व अखण्डता जैसी बात दृष्टिगत क्रम होती है । शहर के जीवन के अपने कुछ प्रभाव तथा दबाव होते हैं । मनुष्य की रोज की दिनचर्या, उसके रहने के स्थान तथा खाने की मात्रा के ऊपर,

उसकी जाति या धर्म के स्थान पर उसकी ‘नौकरी’ या ‘शहरी व्यवसाय’ का अधिक प्रभाव पड़ता है ।

14.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये -

1. मान्यताओं एवं संस्कृति को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है?
2. भारत की लोक मान्यताओं की प्राचीनता समझाइये?
3. क्या ग्रामीण मान्यताएं सामूहिकता के विचार से प्रभावित है ?
4. शहरी मान्यताएं व संस्कृति अपने दबावों व कार्यशैली से प्रभावित है? कैसे ?
5. आधुनिक शिक्षा ने हमारी मान्यताओं को किस प्रकार प्रभावित किया है ?'

ब) निम्न प्रश्नों का उतर 500 शब्दों में दीजिए -

1. जनजातीय संस्कृति एवं मान्यताओं पर अपने विचार प्रकट कीजिए?
2. भारत के मांगलिक प्रतीकों पर टिँप्पणी लिखिये ?
3. ग्रामीण लोकप्रिय मान्यताओं की रूपरेखा समझाइये?

14.9 उपयोगी साहित्य

1. जी. स्लोटर, “द द्रविडियन एलिमेन्ट इन इण्डियन कल्चर”
2. पं. मोहन लाल महतो, "जातक कालीन भारतीय संस्कृति"
3. एम.एन. श्रीनिवास, “कास्ट इन मॉडर्न इण्डिया अदर फसेज”
4. एम.एन. श्रीनिवास, “इण्डियाज विलेजेस”
5. श्याम सिंह शशी, "भारत की पशुपालक जातियाँ"
6. प्रभा शंकर पाण्डये, “इंस्पेक्ट ऑफ इण्डिस्ट्रक्लाईजेशन आन द रूरल कम्यूनिटी”
7. डॉ. डी.एन मजुमदार, “रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया”

इकाई - 15 : भारतीय मेले और त्यौहार

रूपरेखा :

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारत के त्यौहार

15.2.1 विभिन्न प्रदेशों में मनाये जाने वाले त्यौहार

15.2.2 उत्तरी भारत के त्यौहार

15.2.3 पश्चिमी भारत के त्यौहार

15.2.4 मध्य भारत के त्यौहार

15.2.5 दक्षिण भारत के त्यौहार

15.2.6 पूर्व एवं उत्तर-पूर्वी भारत के त्यौहार

15.3 भारत के मेले

15.4 सारांश

15.5 उपयोगी साहित्य

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत के प्रमुख त्यौहारों और मेलों के बारे में चर्चा करेंगे । आप भी कई त्यौहार मनाते होंगे और इस बात से भली-भाँति परिचित हैं कि इन अवसरों पर किस प्रकार हमारे रोजमर्रा के जीवन में खुशी और उल्लास का वातावरण उत्पन्न होता है । पर्यटन उद्योग में आपको अपने भावी कैरियर में पर्यटकों को यह बनाने में सुविधा होगी कि भारतीय संस्कृति में त्यौहारों का कितना महतत्व है । वे क्यों और कैसे मनाये जाते हैं । भारतीय जीवन में त्यौहारों की एक लम्बी श्रृंखला है । इनमें कुछ तो राष्ट्रीय स्तर पर समान रूप से या कुछ भिन्नताओं के साथ मनाये जाते हैं और कुछ देश के विभिन्न क्षेत्रों में अपना विशेष महत्व रखते हैं ।

कुछ मेले, त्यौहार और उत्सवों को विशेषरूप से, विशेष नगरों, गाँवों, राज्यों और क्षेत्रों में मनाये जाने की परम्परा चली आ रही है । इन त्यौहारों और मेलों से भारत की विविधतापूर्ण संस्कृति, रीति-रिवाज और जनजीवन की उन्मुक्त जीवनशैली जुड़ी हुई है और ऐसे अवसरों पर अनेक पर्यटक दूर-दराज से इनमें शामिल होने आते हैं ।कुल्लू और मैसूर का दशहरा, पुष्कर का पशुमेला, केरल का ओणम, बंगाल में दुर्गा-पूजा, ऐसे ही आस्था या परम्पराओं से जुड़े विश्व प्रसिद्ध त्यौहार और मेले हैं ।

15.1 प्रस्तावना

किसी भी देश की सांस्कृतिक विरासत वहां के स्मारकों, मंदिरों, देवालयों, दुर्गों, महलों, हस्तशिल्प, नृत्य आदि की परम्पराओं और कला में प्रदर्शित होती हैं । इनकी खामोशी में छिपी

एतिहासिक एवं सांस्कृतिक धरोहर को समझना और पढ़ना होता है । मेले, उत्सव और त्यौहारों से किसी भी देश की लम्बी परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों और आस्थाओं के स्वर जुड़े होते हैं जो इन अवसरों पर उन्मुक्त रूप से प्रगट होते हैं ।

यही कारण है कि किसी भी देश के जनजीवन की सांस्कृति धरोहर की जीवन्त अभिव्यक्ति से साक्षात्कार करने के लिए पर्यटकों की इन मेलों और त्यौहारों में विशेष रूचि रहती है ।

मेलों और त्यौहारों की इन्हीं विशेषताओं के कारण इनकी चर्चा पर्यटन के सन्दर्भ में एक रोचक पक्ष है जो इकाई में व्यक्त करने की चेष्टा की गई है । इसके अध्ययन से मेलों और त्यौहारों की विविधता एवं इनके भीतर छिपे सांस्कृतिक मर्म स्पष्ट हो सकेंगे ।

15.2 भारत के त्यौहार

आप जानते हैं कि भारतीय संस्कृति का ताना-बाना विभिन्न धर्मों, जातियों, विश्वासों और आस्थाओं आदि के साथ बुना गया है । भारत की सबसे बड़ी विशेषता ही विविधता में एकता है । ऐसे में स्वाभाविक है कि हर क्षेत्र और राज्य की अपनी विशिष्ट परम्पराएं और सांस्कृतिक शैली है । इस कारण मौसम-चक्र के अनुसार अनेक प्रसंगों से जुड़े उत्सवों, त्यौहारों और मेलों की लम्बी श्रृंखला चली आ रही है । साथ ही स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, गाँधी जी एवं महापुरूषों की जयन्ती जैसे राष्ट्रीय त्यौहार, पूरा देश मनाता है ।

26 जनवरी को गणतन्त्र दिवस, 30 जनवरी को शहीद दिवस, 15 अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस, 2 अक्दूबर गाँधी जयन्ती, 14 नवम्बर को बाल दिवस आदि समान रूप से देश में मनाये जाते हैं ।

साथ ही अधिक संख्या में ऐसे मेले और त्यौहार हैं जो धार्मिक आस्थाओं, स्थानीय रीति-रिवाजों, मौसम, लोकजीवन आदि से सम्बन्ध रखते हैं और ये देश के विभिन्न भागों में अपने-अपने रंग लिए हुए है । ऐसे त्यौहारों की क्षेत्रीय सन्दर्भों में चर्चा करेंगे ।

ऐसे भारतीय त्यौहार जो कई राज्यों में समान रूप से मनाये जाते हैं, उनकी श्रृंखला भी उतनी ही लम्बी और विविधताओं से पूर्ण है जितना की भारतीय जीवन है ।

नववर्ष - 1 जनवरी से शुरू होने वाले नववर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कई देशों सहित भारत में भी मनाया जाता है । यह मुख्यत: ईसाई समुदाय का त्यौहार है । लेकिन सम्पन्न वर्ग एवं उच्च मध्यम वर्ग के लोग भी भारत में इसे मनाते हैं ।

मकर संक्रान्ति/ पोंगल - 14 जनवरी को जब सूर्य उतरायन की ओर शुरू होते हैं तो इस दिवस को हिन्दु मकर संक्रान्ति के रूप में मनाते हैं । तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में तीन दिवसीय पोंगल पर्व की शुरूआत होती है । कर्नाटक और उत्तर भारत में यह दिन मकर संक्रान्ति के रूप में सम्पन्न किया जाता है । अहमदाबाद और जयपुर जैसे नगरों में इस दिन पतंगों का रंग-बिरंगा उत्सव आकाश में अपनी छटा बिखेरता है ।

गणतन्त्र दिवस - 26 जनवरी इसी दिन 1950 में भारत का संविधान लागू हुआ और भारत सम्पूर्ण सत्ता सम्पन्न एक राष्ट्र बना । इसलिए इसे राष्ट्रीय दिवस के रूप में पूरे देश में राष्ट्रीय ध्वज फहराकर और परेड एवं झांकियों की रंग-बिरंगी शोभा के साथ मनाया जाता है ।

दिल्ली में भी यह ऑफिसियल उत्सव के रूप में बड़ी शान से सम्पन्न होता है । साथ ही इस अवसर पर हम 1930 में भारत को सार्वभौमिक सत्ता सम्पन्न गणतन्त्र बनाने के स्वतन्त्रता सेनानियों द्वारा लिए गये संकल्प का भी स्मरण करते हैं ।

शहीद दिवस - 30 जनवरी - यह उत्सव नहीं बल्कि एक पावन स्मरण का दिवस होता हे । यह दिन उन शहीदों की याद और उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करने का दिन होता है जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अपने जीवन को होम कर दिया । इसी दिन महात्मा गाँधी की हत्या हुई थी । उन्हें भी विशेष रूप से याद किया जाता है।

बसन्त पंचमी - जनवरी/फरवरी यह वास्तव में उतर भारत में बसन्त ऋतु के आगमन का त्यौहार है । विद्या की देवी सरस्वती की पूजा की जाती है । सरसों के पीले फूलों के रंगों का पर्व है । खेल के मैदानों में प्रतियोगिताएं और पतंगबाजी, इसके अंग हैं ।

शिवरात्रि - फरवरी / मार्च यह शिव की आराधना और पूजा का पर्व है । इस दिन शिवालयों में पूजा-अर्चना करने वालों का मेला लग जाता है । इस दिन लोग उपवास रखते हैं ।

गोवा का कार्निवल - फरवरी / मार्च कैथोलिक इसाई गोवा में ईसाईयों का नया समय आरम्भ होने पर कार्निवल अर्थात् मनोरंजन से भरपूर मेला और साथ ही रोमन कैथोलिकों द्वारा फीस्ट या भोज का आयोजन होता है । परेड, गीत-नृत्यों की इस अवसर पर धूम होती है । यह पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है ।

होली - फरवरी / मार्च - होली रंगों का त्यौहार है । इस दिन होलिका-दहन होता है जिससे कई प्रसंग जुड़े हैं । बुराई के दहन का प्रतीक है, यह त्यौहार । अगले दिन बिना किसी जाति, धर्म, बड़े या छोटे के भेदभाव के लोग रंगों, अबीर, गुलाल और पिचकारियों में रंग भर के होली का उत्सव मनाते हैं । यह अपने भीतर की कुण्ठाओं को अभिव्यक्त करने का भी अवसर है । प्राचीन काल में यह 'मदनोत्सव' के रूप में जाना जाता था । इस त्यौहार से हिरण्यकश्यप की कथा जुड़ी है । प्रहलाद ने उसके बजाय ईश्वर की आराधना की । उसे होलिका के साथ जलाने के प्रयास में प्रहलाद नहीं जला और होलिका राख हो गई । इस प्रसंग के अलावा राधाकृष्ण की होली के रंग भी इससे संलग्न हैं । बरसाना में नृत्यों, गीतों आदि के साथ आज भी कृष्ण-राधा की होली आदि की आस्था से पूर्ण स्मृतियाँ दोहराई जाती है । बरसाना और नन्दगाँव की होली की छटा देखने भी हर साल अनेक पर्यटक आते हैं ।

पंजाब में आनन्दपुर साहिब में होली के दूसरे दिन को सिक्ख समुदाय के एक वर्ग द्वारा 'मोक वेटल्स' आदि के साथ मनाया जाता है ।

जमशेद नवरोज-मार्च - यह पारसी समुदाय का पर्व हे । यह नरेश जमशेद के परसिया में शासन के समय के स्मरण एवं प्रसंगों से जुड़ा है । इस दिन पारसी 'फायर टेम्पल्स्' में पूजा करते हैं । सगे-सम्बन्धियों एवं मित्रों के यहाँ जाते हैं और शुभकामनाएं प्रगट करते हैं ।

महावीर जयन्ती- मार्च / अप्रैल - इस दिन जैन समुदाय 24वें एवं अन्तिम तीर्थांकर की स्मृति में प्रार्थनाओं आदि का आयोजन करते हैं । 2500 वर्ष पूर्व इसी समय उनका जन्म हुआ था ।

रामनवमी - मार्च / अप्रैल - यह भगवान राम की जयन्ती के रूप में धूमधाम से मनाया जाने वाले त्यौहार हैं । यह लगभग पूरे भारत में समान रूप से मनाई जाती है । अयोध्या, उत्तर-प्रदेश

एवं अन्य स्थानों पर मंदिरों की विशेष सजावट, आराधना एवं पूजा के साथ मनाया जाता है । सरयू नदी के किनारे विशाल मेला लग जाता है जहाँ लोग सरयू में डूबकी लगाकर अपने को धन्य मानते हैं ।

गुड फ्राइडे मार्च / अप्रैल - इस दिन ईसामसीह की क्रास पर लटकते हुए मृत्यु होने की स्मृति में ईसाई समुदाय द्वारा गिरजाघरों में प्रार्थनाएं की जाती हैं । उपवास और लम्बी प्रार्थनाओं वाले दिवस जिसे 'लैन्ट' कहते हैं, उसके बाद गुड फ्राइडे आता है ।

ईस्टर-डे मार्च / अप्रैल - गुड फ्राइडे के बाद आने वाला रविवार ईसाई समुदाय के लिए उत्सव मनाने का होता है । यह विश्वास किया जाता है कि गुड फ्राइडे को सूली पर चढ़ाने के बाद ईसामसीह की मृत्यु हुई थी, वे पूनर्जीवित हुए । उसके बाद वे 40 दिन जीवित रहे । फिर स्वर्ग सिधारे । इसी प्रसंग को लेकर ईसाई समुदाय देशभर में इसे उत्साह से मनाते हैं । खुशियाँ मनाते हैं । मित्रों सम्बन्धियों से मिलने जाते हैं और भोज आयोजित करते हैं ।

बैसाखी- 13 अप्रैल - बैसाख माह का यह पहला दिन होता है । कई हिन्दु समुदाय इसे नये वर्ष का प्रारम्भ मानते हैं । नदियों आदि में पवित्र स्नान करना पुण्य माना जाता है । एक किवदन्ती के अनुसार पवित्र गंगा का इस दिन धरती पर अवतरण हुआ था ।

सिक्खों के लिए इस दिन का विशेष महत्त्व है क्योंकि वह बैसाखी का दिन था जबकि गुरू गोविन्द सिंह (सिक्खों के 10वें और आखिरी गुरू) ने सिक्खों को 'खालसा' या पवित्र के रूप में संगठित किया ।

शब-ए-बरात - (अलग-अलग सालों में भिन्न-भिन्न महीनों में) मुसलमानों की मान्यता है कि इस रात में अल्लाह या गॉड, अपनी रचना अर्थात् मनुष्यों के कार्यों का लेखा-जोखा करते हैं और उनके कर्मों के अनुसार उनका भाग्य तय करते हैं ।

मोहम्मद साहब की इसके पीछे यह भावना थी कि लोग इस रात को उपवास एवं नमाज या प्रार्थना के साथ मनाये । इसे उत्साह से मनाया जाता है ।

बुद्ध जयन्ती (या बुद्ध पूर्णिमा) - अप्रैल / मई - यह दिन गौतम बुद्ध की जयन्ती और निर्वाण के रूप में मनाया जाता है । बुद्ध परम्परा में बुद्ध का जन्म, मृत्यु या निर्वाण आदि सब एक ही दिन पूर्णिमा को माना जाता है राजकुमार सिद्धार्थ, (बौद्ध सम्प्रदाय के संस्थापक) का जन्म पूर्णिमा के दिन लुम्बिनी, नेपाल में 563 बी.सी. में हुआ था । इसी दिन उन्हें बोद्यिसत्व प्राप्त हुआ और वे बुद्ध बने । बैसाख की पूर्णिमा को ही उनके शरीर का अवसान हुआ । इस दिन उनके अनुयायी बौद्ध मठों मैं प्रार्थनाएं करते हैं एवं मन्त्रोचार करते हैं । सारनाथ (वाराणसी के पास) जहाँ भगवान बुद्ध ने पहला उपदेश दिया था और बिहार के बोध गया, जहाँ उन्हें बोद्यिसत्व ज्ञान हुआ, में इस दिवस पर विशेष आयोजन होते हैं । सिक्किम एवं लद्दाख मे भी उनके अनुयायी इसे मनाते हैं ।

इदुल-फित्तर (किसी भी महीने) - मुसलमानों के अन्य त्यौहारों जैसे शब-ए-बरात, इदुल-जुहा, बारावफात आदि की तरह इदुल-फितर भी साल के किसी महीने में ही हो सकता है । इस्लामी कैलेन्डर के अनुसार इदुल-फितर, पवित्र रमजान महीने का अन्त माना जाता है । यह समुदाय दिन में महीने भर उपवास रखता है । रात में खाना खाता है । चाँद दिखने के बाद मीठी ईद

आती है । मीठी सेवियाँ बनती हैं । बच्चे, बड़े, सभी नये वस्त्र धारण करते हैं । दावतें होती हैं । ईदगाह या मस्जिदों में एक साथ नमाज अदा की जाती है । बच्चों को उपहार दिये जाते हैं । गरीबों को दान दिया जाता है ।

ईदुलजुहा (साल में विभिन्न समय) - इस ईद को बकरा ईद भी कहते हैं । समुदाय की मान्यता के अनुसार इब्राहिम को खुदा ने आदेश दिया कि वह अपने पुत्र इस्माई का बलिदान करे । उसने कपड़े से आँखें बन्द करके खुदा के हुकूम की पालना की । लेकिन जब आँखों से पर्दा हटाया तो अपने लड़के को अपने पास ही जीवित पाया क्योंकि बलिवेदी पर उसके पुत्र के स्थान पर बकरे का वध किया गया था । इब्राहिम द्वारा बलिदान किये जाने की याद में यह मनाया जाता है । हर मुस्लिम परिवार इस दिन बकरे का बलिदान करता है ।

नाग पंचमी-जुलाई / अगस्त - यह मान्यता है कि हमारी पृथ्वी शेषनाग पर टिकी हुई है । इसलिए शेषनाग की पूजा को यह दिन समर्पित किया गया । नाग की पत्थरों पर अंकित छवि को दूध से नहलाया जाता है । सर्पदंश से बचाव की आकांक्षा की जाती है ।

स्वतन्त्रता दिवस- 15 अगस्त - ब्रिटिश राज की समाप्ति के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ । इसलिए हर साल इस दिन राष्ट्रीय ध्वज फहराकर देशभर में इसे उत्साह और खुशियों के साथ मनाया जाता है ।

रक्षाबंधन (राखी) -जुलाई / अगस्त - यह त्यौहार पूरे भारत में मनाया जाता है । बहिनें अपने भाईयों के हाथ में राखी या रेशम के धागों आदि से बनी विभिन्न प्रकार की राखियाँ बाँधती हैं । यदि भाई या चचेरे भाई आदि सम्बन्ध न हो और किसी के हाथ पर कोई लड़की राखी बांधे तो उसका लड़की से भाई का रिश्ता बन जाता है । भाई अपनी बहिनों को उपहार देते हैं । उनकी रक्षा का संकल्प लेते हैं ।

खोरदादसल - अगस्त / सितम्बर - यह पारसी समुदाय का महत्वपूर्ण पर्व है । यह उनकी आस्था के प्रति झोरास्टर के जन्म से जुड़ा त्यौहार है ।

गणेश चतुर्थी - अगस्त / सितम्बर - शिव और पार्वती के पुत्र गणेश, हिन्दुओं के सर्वप्रथम पूज्य-देव हैं । हिन्दुओं के द्वार पर गणेश प्रतिमाएं लगाई जाती हैं । यह माना जाता है कि गणेश जी द्वारा अमंगल को नष्ट कर दिया जाता है और वे मंगलकारी है । उनके सम्मान में गणेश चतुर्थी उत्सव मनाया जाता है । पूजा के विभिन्न विधानों में सबसे पहले गणेश पूजा या गणेश वन्दना की जाती है ।

भारत के विभिन्न भागों में गणेश जी की मोटी प्रतिमाएं बनाई जाती है और हजारों लोग उन्हें खरीदते हैं । बम्बई में तो यह उत्सव बड़ी ही धूमधाम से मनाया जाता है । पूजा-अर्चना और इससे जुड़ी प्रथाओं के सम्पन्न होने के बाद समुद्र, नदी या जल में इन्हें विसर्जित किया जाता है ।

ओणम-अगस्त / सितम्बर - ओणम, केरल का एक बड़ा त्यौहार है । राजा महाबली की कथा से जुड़ा, यह उत्सव चार दिन तक मनाया जाता है । साथ ही यह फसल की कटाई के मौसम से भी सम्बन्धित है ।

जन्माष्टमी-अगस्त / सितम्बर - हिन्दुओं के अति पूज्य एवं लोकप्रिय कृष्ण के जन्म दिवस को जन्माष्टमी के दिन मनाया जाता है । इस अवसर पर कृष्ण-लीलाओं, उनकी बाल-

लीलाओं सहित भव्य झांकियां बनाई जाती है । भक्ति-संगीत से साल वातावरण गुंजायमान होने लगता है । मंदिरों एवं देवालयों में भी विशेष आयोजन होते हैं । यह सारे देश में धूमधाम से मनाया जाता है । मथुरा, वृन्दावन, ब्रज में तो इस की शोभा ही निराली रहती है । कंस का वध आदि कई प्रसंग कृष्ण के जीवन से जुड़े हैं जिन्हें दोहराया जाता है । महाराष्ट्र में गोविन्दा अर्थात् कृष्ण के बालपन के मटकी फोड़ने के प्रसंग को दोहराया जाता है । मक्खन, दही आदि का मटका ऊँचाई पर लटकाकर, उस तक मानव-श्रृंखला बनाकर पहुँचने और फोड़ने की परम्परा है ।

मोहर्रम - यह वास्तव में उत्सव नहीं बल्कि दुखद अवसर है जिसे याद करने की यह परम्परा है । यह दस दिन तक गहन शोक मनाने का समय होता है । मोहम्मद साहब के पोते इमाम हुसैन और अनुयायी की कर्बला में हजार साल पहले की शहादत का प्रसंग इससे जुड़ा है । यह सिया मुसलमानों द्वारा मनाया जाता है । बाँस और की रंग-बिरंगी पत्तियों के ताजिये निकाले जाते हैं ।

गाँधी जयन्ती-2 अक्ट्बर - महात्मा गाँधी की जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को श्रद्धा सुमन अर्पित किये जाते हैं । समूह-प्रार्थनाएं, चर्खा कातने आदि गाँधी जी से जुड़ी बातों को दोहराया जाता है ।

दशहरा, नवरात्रि और दुर्गौपूजा-सितम्बर / अक्टूबर - बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक दशहरा त्यौहार दस दिन तक होता है । हिन्दुओं के लिए इसका विशेष महत्व है और यह पूरे देश में मनाया जाता है । यह देवी दुर्गा की महिशासुर राक्षस राजा के वध और उस पर विजय के स्मरण का भी अवसर होता है । साथ ही दशानन रावण का राम द्वारा इसी दिन वध किये जाने का प्रसंग भी इससे संलग्न है ।

दशहरे से पूर्व की नवरात्रि माँ देवी दुर्गा के विभिन्न पक्षों और माँ की पूजा अर्चना के साथ सम्पन्न की जाती है । कहते हैं कि राम ने रावण का वध करने के लिए रामायण काल में शक्ति की प्रतीक माँ दुर्गा की आराधना की । माँ दुर्गा के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ बनाई जाती है । गुजरात में नवरात्रा पर्व पर महिला गरबा नृत्यों के साथ इसे मनाती हैं । दक्षिण भारत में कई स्थानों पर मांटी के बर्तन पर नारियल का ताज रखकर लड़कियाँ नृत्य-गीतों के साथ परिक्रमा करते हुए मनाती है । लक्ष्मी और सरस्वती की भी इन दिनों पूजा की जाती है ।

बंगाल में दुर्गा पूजा को काली पूजा भी कहते हैं क्योंकि देवी के 'काली' पक्ष की भी पूजा की जाती है । महाकाली एवं अन्य मंदिरों में काली की अर्चना से जुड़ी प्रथाओं के समय भारी भीड़ जमा हो जाती है । बंगाल में माँ दुर्गा की मांटी की मूर्तियाँ बनाने में शिल्पी महीनों पहले जुट जाते हैं । हर साल अनेक लोग इन्हें खरीदकर अपने-अपने इलाके में तीन दिन (7वें, 8वें एवं 9वें दिन) पूजा करते हैं और रात-रात भर देवी की अर्चना में शामिल होते हैं । दशहरा के दिन भैंसों के बलिदान की प्रथा भी है । समुदायों द्वारा पूजी जा रही बड़ी प्रतिमाओं एवं घरों पर पूजी जाने वाली मूर्तियों का जुलूस के साथ नदी या सागर में विसर्जन होता है ।

उत्तरी भारत में नौ दिन रामायण पाठ या रामलीलाएं होती हैं । दशहरा या विजयादशमी अर्थात् नवरात्रि समाप्ति के अगले दिन, नगरों-कस्बो में रामलीला मैदानों पर

रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाथ के रंग-बिरगे कागजों से तैयार पुतलों का दहन किया जाता है । इसके पूर्व पुतलों को राम के रूप में तीर से मारने की प्रथा है ।

इन पुतलों में बारूद होता है जो धमाकों के साथ नष्ट होता है । यह पर्व बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक है ।

कुल्लू-मनाली का दशहरा बहुत प्रसिद्ध है । कई दिनों तक नृत्यों, गीतों एवं सांस्कृतिक प्रस्तुतियों के साथ यह सम्पन्न होता है । यही हर साल अनेक पर्यटक आते हैं । मैसूर का दशहरा भी बहुत लोकप्रिय है । इस अवसर पर परम्परागत जुलूस और रोशनी देखने के लिए देशी-विदेशी पर्यटक उमड़ पड़ते हैं ।

भरत मिलाप-सितम्बर / अक्टूबर - इस त्यौहार को हिन्दु अपने सगे- सम्बन्धियों के एक स्थान पर एकत्रित होने का अवसर मानते हैं क्योंकि इस दिन 14 वर्ष के वनवास के बाद राम का भरत से मिलन हुआ था ।

गुरूनानक जयन्ती-अक्टूबर / नवम्बर - गुरूनानक जयन्ती या गुरू पर्व, सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक गुरूनानक (1469-1539) की जयन्ती है । अमृतसर, तरणतारण पटना और आनन्दपुर, इन चार स्थानों पर गुरूनानक जयन्ती विशेष धूमधाम के साथ मनाई जाती है । ये सिक्खों के अत्यन्त पवित्र स्थल हैं । सिक्खों के कुछ पवित्र-स्थल अब पाकिस्तान में हैं । वहाँ भी सिक्खों के जत्थे मत्था टेकने जाते हैं । जयन्ती से पूर्व दो दिनों तक निरन्तर पवित्र ग्रन्थ- गुरू ग्रन्थ साहिब का वाचन किया जाता है । पर्व के दिन 'गुरू ग्रन्थ साहिब' की शोभायात्रा निकाली जाती है ।

सिक्ख पंथ के पाँच बुजुर्ग या बड़े पवित्र ग्रन्थ को सिर-माथे पर लेकर शोभायात्रा के आगे-आगे चलते हैं । उनके हाथों में तलवारें होती हैं । जो भी भोजन करना चाहें, उनके लिए 'लंगर' आयोजित किये जाते हैं ।

दीवाली (दीपावली)-अक्टूबर / नवम्बर - दशहरा के 20 दिन बाद प्रकाश पर्व दीपोत्सव मनाया जाता है । अमावस्या की काली रात में 'अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ने' का सन्देश लेकर आने वाला यह पंच-दिवसीय महापर्व है । यह कार्तिक अमावस्या को मनाया जाता है । भारत मे हर गाँव, कस्बे, नगर में हर हिन्दू का घर मांटी के दीपक, मोमबत्तियाँ जलाकर और अब बल्बों और रंग-बिरंगी रोशनी से सजाया जाता है । चारों ओर अंधेरे को चुनौती देती हुई रोशनी ही रोशनी हो जाती है । रात्रि में लक्ष्मी पूजन किया जाता है । लक्ष्मी, समृद्धि और सम्पन्नता की देवी है । लोग अपने घरों की सफाई करते हैं । उन्हें सजाते हैं । मिठाईयाँ बनती हैं । बच्चे, आतिशबाजी का आनन्द लेते हैं ।

इस त्यौहार की यह विशेषता है कि भारत के सभी धर्मावलम्बी इसकी खुशियों में शामिल होते हैं । सर्दी के आगमन के स्वागत और सर्दी की फसल बोने और खरीफ की फसल की समाप्ति से जुड़े इस महापर्व के साथ भी कई प्रसंग जुड़े हैं । यह भी मान्यता है कि 14 वर्ष के वनवास के बाद राम, लक्ष्मण और सीता, अयोध्या लौटे थे । इस अवसर पर अयोध्यावासियों ने घर-घर में रोशनी करके खुशियाँ मनाई थी ।

बंगाल और पूर्वी भारत के कुछ भागों में इस दिन काली माँ की पूजा की जाती है । व्यापारियों और व्यवसाईयों के लिए दीपावली. नये वर्ष का आरम्भ माना जाता है । ये अपने पुराने खाते-बही या एकाउन्ट को अन्तिम रूप देते हैं और नई शुरूआत करते हैं । हिसाब की पुस्तकों या बहियों की पूजा की जाती है ।

दीवाली (दीपावली) अक्टूबर / नवम्बर - जैन धर्मावलम्बी दीपावली के दिन को अपने अन्तिम तीर्थांकर स्वामी महावीर के मोक्ष अर्थात् शरीर से मुक्ति का पर्व मानते हैं । जैन मंदिरों में और कुछ पवित्र स्थलों पर रोशनी करके जीवन-चक्र से महावीर की मुक्ति के इस अवसर पर उत्सव मनाते हैं । ये इस बात के प्रतीक होते हैं कि महावीर ने अपने पीछे प्रकाश छोड़ा है । इसे देव-दीवाली भी कहते हैं ।

गुजरात के गिरनार पर्वत के दृश्य इस उत्सव के अंग होते हैं । हजारों जैन धर्मावलम्बी पवित्र पर्वत के पास एकत्रित होते हैं । रात में दीप प्रज्ज्वलित करते हैं । परिक्रमा करते हैं । शोभायात्राओं का भी आयोजन होता है।

बाराबफात (ईद-इ-मिलन्द) - मुस्लिम माह रबि-उल्ल-अव्वल के 12वाँ दिन, मुसलमानों के लिए अत्यन्त पवित्र अवसर है जबकि मोहम्मद साहिब का जन्म और मृत्यु हुई थी । इसलिए यह इदुल्ल मिलन्द नबी और बाराबफात त्यौहार है ।

क्रिसमिस दिवस-25 दिसम्बर - ईसा मसीह की जयन्ती विश्वभर में इसाईयों द्वारा मनाई जाती है । क्रिसमिस की शाम मध्यरात्रि को गिरीजाघरों में प्रार्थनाएं की जाती हैं । इस अवसर पर भोज, उपहारों के आदान-प्रदान और खुशियों का इजहार किया जाता है । अगले दिन, परम्परागत रूप से गरीबों को दान देने की प्रथा है । चर्च और पूजास्थल और इसाई घरों को सजाया जाता है और बालक ईसा के पालने में झूलने के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं ।

गुरु गोविन्द सिहं जयन्ती (गुरूपर्व)-दिसम्बर / जनवरी - सिक्खों के 10 वें गुरू गोविन्द सिंह (1666-1708) की जयन्ती समारोहपूर्वक सिक्खों द्वारा आयोजित की जाती है । 'कार प्रसाद' और लंगर आयोजित होते हैं ।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण परिवेश और ताना-बाना इसकी विविधता की तरह विभिन्न धर्मावलम्बियों की आस्थाओं और विश्वासों से जुड़े हैं । इतनी ही विविधता त्यौहारों में है और हर त्यौहार के पीछे कोई न कोई प्रसंग, भावना या अर्थ संलग्न हैं ।

भारतीय संस्कृति की आत्मा, हर्ष और उल्लास, इन त्यौहारों पर अभिव्यक्त होते हैं और समाज को गतिशील और सामंजस्य से पूर्ण बनाये रखने, सुख, शान्ति और समृद्धि के साथ गतिशील बनाये रखने का दर्शन इन त्यौहार श्रृंखला के पीछे है ।

15.2.1 विभिन्न प्रदेशों में मनाये जाने वाले त्यौहार

राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न त्यौहारों के अतिरिक्त क्षेत्रीय स्तर पर भी देश के अलग-अलग हिस्सों में अनेक त्यौहार, उत्सव और पर्व मनाये जाते हैं । इनके पीछे सामाजिक रीति-रिवाज, प्रथाएं, विश्वास, स्थानीय भावनाएं आदि जुड़े रहते हैं । राज्य विशेष या क्षेत्र विशेष के त्यौहारों की अपनी विशेषताएं और आकर्षण होते हैं । इन त्यौहारों में भी देशी-विदेशी पर्यटकों

का आकर्षण रहता है । कुल्लू और मैसूर का दशहरा, पुष्कर मेला, केरल में ओणम और बंगाल में दुर्गापूजा उत्सव, इन क्षेत्रीय और राज्यस्तरीय त्यौहारों के उदाहरण हैं ।

हर त्यौहार का अपना विशेष स्वरूप और शैली होती है । इनके अपने-अपने रंग और विशेषताएं होती हैं । भारत में त्यौहारों की संख्या इतनी अधिक और विविध है कि विस्तार से इनका वर्णन करना, सीमित दायरे में सम्भव नहीं है लेकिन संस्कृति के अभिन्न अंग, इन त्यौहारों की एक विशेष झलक यहाँ प्रस्तुत करने का हम प्रयास करेंगे ।

15.2.2 उतरी भारत के त्यौहार

जम्मू और कश्मीर के त्यौहारों शिवरात्रि, नौ रोज, जेठा अष्टमी, उर्स, खिचड़ी अमावस्या आदि प्रमुख हैं । इसके अलावा होम्से गोम्पा मेला और मेला लोजाब, लद्दाख, भी पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र हैं ।

पंजाब और हरियाणा के कुछ भागों में लोहड़ी, बैसाखी और भैया दूज या टिक्का, जबकि हिमाचल प्रदेश के चम्बा में मिन्जर मेला, कुल्लू घाटी में दशहरा और ज्वालामुखी मेला आदि प्रसिद्ध हैं । दिल्ली में गणतन्त्र दिवस परेड़ आदि की निराली छटा होती है । 'फूल वालों की सैर' या 'सायरे गुलफरोशन' आदि भी दिल्ली के बड़े आयोजन हैं । उतर प्रदेश में बरसाना और नन्दगाँव की होली, मथुरा की रथयात्रा, कंस का मेला आदि लोकप्रिय हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर होली, दीवाली, बुद्ध, महावीर जयन्ती, ईस्टर आदि त्यौहार तो विभिन्न प्रदेशों सहित आयोजित होते ही हैं परन्तु कुछ त्यौहारों की अपनी प्रादेशिक या क्षेत्रीय विशेषताएं भी हैं ।

लद्दाख सहित जम्मू-कश्मीर के त्यौहार - शिवरात्रि का जम्मू-कश्मीर में विशेष महत्व है । यह त्यौहार 15 दिन तक मनाया जाता है । 13वें दिन को हैरात या हर्चा-तरूआ कहते हैं जो शिवरात्रि के दिन मनाया जाता है । उपवास रखे जाते हैं । शाम को भैरव-पूजा की जाती है । उसके बाद भोज का आयोजन होता है । मिठाईयाँ आदि बाँटी जाती है ।

नवरोज या नववर्ष दिवस-मार्च / अप्रैल - देवी लक्ष्मी की आराधना के साथ यह दिन प्रारम्भ होता है । एक प्लेट जिसमें चावल, चीनी, दही, फल, सिक्के, शीशा, दवात आदि होते हैं वह घर की ग्रहणी द्वारा घर के सदस्यों को प्रात: दिखाई जाती है । यह विश्वास है कि इससे लक्ष्मी का आशीर्वाद मिलता है और परिवार में नैतिक एवं भौतिक समृद्धि आती है ।

जेष्ठ अष्टमी या रिवर भवानी मेला - मई - जेष्ठ के महीने के शुक्ल पक्ष. की अष्टमी को देवी रंगनिया को समर्पित है जिसका निवास श्रीनगर में 22 किमी. दूर खीर भवानी में माना जाता है । लोग भारी संख्या में खीर भवानी के मंदिर में एकत्रित होते हैं । यह सिलसिले त्यौहार के कई दिन पूर्व ही शुरू हो जाता है । जेष्ठ की अष्टमी को श्रद्धालु भवानी की पूजा-आराधना करते हैं । दूध-खीर और फूल चढ़ाते हैं । इस स्थल भर विशाल मेला लगता है।

हेमिस गोम्पा - जून - लेह से लगभग 25 मील दूर हेमिस गोम्पा सबसे पुरानी, सबसे समृद्ध और विशाल बिहार या मोनेस्ट्री है । बौद्धों के केलेन्डर के अनुसार हर साल पाँचवे माह के 19वें दिन यह बडा मेला लगता है । यह तीन दिन तक जारी रहता है । यह गुरू पदम् सम्भव की

जयन्ती का अवसर होता है । माना जाता है कि ये लामाओं के बौद्धधर्म का सन्देश सिक्किम, भूटान और हिमालय आदि क्षेत्रों में लेकर आये थे । इस अवसर पर वे मास्क-नृत्य भी प्रस्तुत करते हैं ।

शाह हमदन का उर्स (श्रीनगर) - अगस्त/सितम्बर - 14वीं सदी के अन्त में, मुस्लिम सन्त शाह हमदन (परसिया या फारस के) ने कश्मीर की यात्रा की थी । उनका मकबरा (श्राईन) श्रीनगर में है । उनकी याद में सालाना उर्स का आयोजन किया जाता है ।

लोजार मेला - दिसम्बर - यह उत्सव मुख्यत: लद्दाख में मनाया जाता है और यह फसल कटाई के अवसर पर आयोजित पर्व है । इस त्यौहार पर बौद्ध बिहार या मोनेस्ट्रीज को दीपों और मोमबत्तियों में प्रकाशमय किया जाता है । इस अवसर पर प्रार्थना और उत्सव मनाया जाता है।

खिचड़ी अमावस्या-दिसम्बर / जनवरी - पौराणिक मान्यताओं के अनुसार कश्मीर में किसी समय यक्षों का निवास था । यह यक्षों अर्थात् देवात्माओं के प्रति श्रद्धा का पर्व है । खिचड़ी अमावस्या, वह दिन है जबकि दाल-चावल पकाकर घी के साथ लोग अपने घरों और छत पर रखकर इन यक्षों को ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करते हैं ताकि उनके आराध्य वहाँ के वासियों को समृद्धि और शान्ति प्रदान करें ।

इसके अलावा अन्य स्थानीय पर्व भी मनाये जाते हैं । लद्दाख के अधिकांश त्यौहार बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होते हैं जबकि जम्मू और कश्मीर में अपने स्थानीय त्यौहारों के साथ भारत में मनाये जाने वाले अन्य त्यौहार भी मनाये जाते हैं ।

पंजाब और हरियाणा के त्यौहारों-लोहड़ी- जनवरी- 13 - सर्दी के मौसम के परवान चढ़ने पर मनाया जाने वाला यह पंजाबी समुदाय का त्यौहार है । समुदाय द्वारा 13 जनवरी और कभी-कभी 12 जनवरी का दिन सबसे ठंडा दिन माना जाता है । यह भी विश्वास है कि इस दिन के बाद कप-कपा देने वाली सर्दी का प्रभाव कम पड़ता जायेगा । यह भी फसल की कटाई के समय का त्यौहार है । इस समय फसल लगभग पकने लगती है । शाम को आग-प्रज्जवलित की जाती है । यह भी परम्परा है कि जिस घर में कोई मंगल कार्य, विवाह आदि हुए हैं, वह पूरे गाँव का लोहड़ी पर आतिथ्य करते हुए यह त्यौहार मनाता है । लोहड़ी में चावल के पकवान, पोपकार्न, मिठाई, गुड़, गजक, रेवड़ी आदि डाले जाते हैं । लोकगीत गाये जाते हैं । इस दिन प्रज्ज्वलित यह आग शाम को त्यौहार का प्रमुख आकर्षण होती हैं ।

बैसाखी- 13 अप्रैल - यह त्यौहार भारत के अन्य भागों में मनाया जाता है । हरियाणा में कुरूक्षेत्र में श्रद्धालु, पवित्र तीर्थस्थल पर स्नान करते हैं । सिक्खों के लिए भी यह महत्वपूर्ण त्यौहार है क्योंकि इस दिन गुरू गोविन्द सिंह ने सिक्खों को खालसा के रूप में 17वीं सदी में संगठित किया था । नगरों और गाँवों में भंगड़ा नृत्य का हर जगह नजारा देखने को मिलता है । हजारों श्रद्धालु अमृतसर के स्वर्णमंदिर के तालाब में पवित्र स्नान करते हैं । ग्रन्थ साहब का पाठन होता है ।

भाई- दूज या टिक्का-अक्टूबर / नवम्बर - दीपावली के अगले दिन बहिनें अपने भाईयों के तिलक लगाती हैं । इस अवसर पर रक्षाबंधन के अवसर के समान भावनाएं प्रगट की जाती है ।

इस प्रकार पूरे भारत में मनाये जाने वाले उत्सवों और त्यौहारों के साथ क्षेत्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्यौहारों की अपनी अलग छटा होती है ।

हिमाचल प्रदेश के त्यौहार - रंगों भरे त्यौहारों के सन्दर्भ में हिमाचल प्रदेश की अपनी निराली शान है । कुल्लू और कांगड़ा घाटी में रोचक मेलों और धार्मिक त्यौहारों को मनाने की अपनी अलग शैली है । यहाँ का दशहरा प्रसिद्ध है । यहाँ का चम्बा में मिन्जर मेला, कांगड़ा घाटी में ज्वालामुखी मेला आदि कई त्यौहार और मेले प्रसिद्ध हैं । सरबारी में शिवरात्रि मेला, बैजनाथ और कुंज दरबार, सलियाना मेला आदि का भी धूमधाम के साथ आयोजन होता है । पालमपुर व सलियाना मेले में कुश्ती मैच होते है ।

इस प्रकार सुजानपुर, तिरा, हमीरपुर, कनिहारा आदि कई स्थानों पर होली मेला, भीक्खा शाह मेला, आदि कई मेले विभिन्न महीनों मे लगते हैं । धर्मशाला कांगड़ा आदि में भी मेले लगते हैं ।

चम्बा में मिंजर मेला - मिंजर मेला चम्बा की सुहावनी और सुन्दर चम्बा घाटी में आयोजित किया जाता है । यहाँ आकर्षक दृश्य उपस्थित हो जाता है । यह पर्वतीय मेला है । पुराने समय में चम्बा नरेश की उनके महलों से रावी नदी की ओर की चट्टानों तक शोभायात्रा निकाली जाती थी । आज भी परम्परा के अनुरूप राज्य के अधिकारी और जनता इस चट्टान पर एकत्रित होते हैं । रेशम और चाँदी के सूत्र जिन्हें ‘ मिन्जर ’ कहते हैं, रावी नदी में फैंकते हैं । यह देवी या पवित्र नदी को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है ताकि वह नगरवासियों की आपदाओं में रक्षा करने में सहायता करें । यह प्रतीकात्मक अर्थ इस त्यौहार से जुड़ा है । पुराने जमाने में नदी की उफनती लहरों के बीच भैंसे को धकेलकर उसका बलिदान करने की प्रथा थी लेकिन अब यह प्रथा अन्य प्रतीक रूप में निभाई जाती है ।

दशहरा-सितम्बर / अक्टूबर - कुल्लू, मनाली, चम्बा और कांगड़ा घाटी में 10 दिवसीय दशहरा त्यौहार बड़ी ही धूमधाम से सम्पन्न किया जाता है । मंदिरों में देव-प्रतिमाओं के साथ भव्य शोभायात्रा निकाली जाती है । नृत्यों और संगीत की स्वर लहरियों के साथ यह आयोजन होता है।

ज्वालामुखी मेला-अप्रैल / अक्टूबर - कांगड़ी घाटी के निवासियों एवं देश के अन्य भागों के यात्रियों द्वारा ज्वालामुखी (वोल्केनो) की देवी की अर्चना की जाती है । ज्वालामुखी फूटने पर निकलने वाली गैसों को देवों के मुख से निकलने वाली पवित्र अग्नि माना जाता है । अप्रैल में नवरात्रा के अवसर पर तथा दशहरा मेले के अवसर पर ज्वालामुखी देवी के मंदिर मे भारी भीड़ जमा होती है । प्रार्थना और आराधना के साथ यह त्यौहार सम्पन्न किया जाता है ।

दिल्ली - भारत की राजधानी दिल्ली में गणतन्त्र दिवस, राजपथ पर परेड़, लाल किले पर स्वतन्त्रता दिवस, फूल वालों की सैर, दशहरा, ईद, बुद्ध जयन्ती, ख्वाजा निजामुद्दीन ओलिया का उर्स आदि दिल्ली के विशेष त्यौहार हैं।

फूल वालों की सैर (शायर-ए-गुलफरोशन)- अगस्त / सितम्बर - यह फूलों या फूलों की शोभायात्रा का दिलचस्प त्यौहार, मुगलकाल से मनाया जा रहा है । इस आयोजन में हिन्दु, मुसलमान आदि सभी समुदायों के लोग शामिल होते हैं । बड़े-बड़े ताड़ के पत्तों से बने पंखों को फूलों से

सजाकर महरोली में शोभायात्रा निकाली जाती है । यह कभी एक गाँव था लेकिन अब दिल्ली महानगर का एक भाग है । होजी शमसी से शुरू होकर ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार की दरगाह तक जाता है । ये चिश्ती परम्परा के दूसरे सूफी सन्त थे । फिर जोगमाया मंदिर तक जाती है । इन दोनों स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम प्रार्थना और इबादत करते है । इस अवसर पर मुशायरा आदि और भी कई आयोजन होते है ।

सन्त ख्वाजा निजामुद्दीन ओलिया (1238-1324) के प्रति अनेक भारतीयों की श्रद्धा है । उनकी दरगाह और मकबरे पर हजारों श्रद्धालु माथा टेकने और उनकी दुआएं या आशीर्वाद पाने की अभिलाषा के साथ जाते हैं । यह विश्वास किया जाता है कि ख्वाजा की दरगाह के तालाब के पानी चमत्कारी तत्व है जो राहत देते हैं और मर्ज का इलाज करते हैं । उनकी और उनके अनुयायी प्रसिद्ध शायर अमीर खुसरो, चिश्ती परम्परा के 4 ये सन्त और ख्वाजा निजामुद्दीन चिश्ती की याद में सालाना उर्स का आयोजन किया जाता है ।

इनके साथ यह किवदन्ती जुड़ी हुई है कि तुगलक वंश के संस्थापक गयासुद्दीन तुगलक् ने ख्वाजा निजामुद्दीन का कई अवसरों पर विरोध किया लेकिन वह सफल नहीं हुआ । आज जहाँ ख्वाजा की दरगाह और तालाब है, वहाँ तुगलक सुल्तान ने अपनी नई राजधानी तुगलकाबाद का निर्माण करने का आदेश दिया था जबकि ख्वाजा वहां तालाब का निर्माण करना चाहते थे । इसलिए निर्माण स्थल पर दोनों ने काम शुरू किया । सुल्तान ने देखा कि उसकी पसन्द की राजधानी के निर्माण का कार्य बहुत ही धीमा चल रहा है । अन्त में उसे अपने लोगों को काम बन्द करने का आदेश देना पड़ा । सुल्तान के लोगों को यह ड़र लगा कि यदि उन्होंने सुल्तान का आदेश नहीं माना तो उनका सिर कलम कर दिया जायेगा और उन्होंने यदि सन्त का साथ दिया तो उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी । अत: उन्होंने अपनी आत्मा की आवाज सुनकर ख्वाजा के सपनों को पूरा करने में योग दिया और काम की गति अत्यन्त धीमी रखी । साथ ही दिन में वे सुल्तान के लिए धीरे-धीरे थोड़ा काम करते और रात को तीव्रगति से ख्वाजा के सपनों को साकार करने के लिए तालाब का कार्य करते थे । कहते हैं कि सुल्तान को यह पता चला तो उसने रात को रोशनी के लिए होने वाले तेल की आपूर्ति बन्द करवा दी लेकिन चमत्कार यह हो गया कि रात को तालाब के पानी से रोशनी होने लगी ।

इस प्रकार बने ख्वाजा के तालाब और उस स्थान के चमत्कारों और मन्नतों को पूरा करने के लिए लोग वही इबादत के लिए जाते हैं । वहाँ भारत और पाकिस्तान के अनेक श्रद्धालु आते हैं । उर्स के समय अमीर खुसरो की स्मृति में मुशायरे का आयोजन होता है ।

उतर प्रदेश का त्यौहार - उतर प्रदेश के महत्त्वपूर्ण त्यौहारों में होली (फूलडोल) बनारस और नन्दगाँव में, वृन्दावन में कार फेस्टीवल या त्यौहार, बनयात्रा, कंस का मेला, रामनवमी, दीवाली, दशहरा, जन्माष्टमी आदि का विशेष आयोजन होता है । पूरे देश के हिन्दुओं की परम आस्था का केन्द्र महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ भी इलाहाबाद / प्रयाग और हरिद्वार में (मध्यप्रदेश में उज्जैन, महाराष्ट्र के नासिक सहित) सम्पन्न होता है । माघ या जनवरी / फरवरी में इलाहबाद में साथ मेला लगता है । इस प्रकार उत्तरप्रदेश में भी अनेक स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर के त्यौहारों और मेलों की लम्बी श्रृंखला का आयोजन होता है ।

कुम्भ मेला (महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ) - अत्यन्त पावन और विशाल महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ मेलों का आयोजन 12 साल में एक बार बारी-बारी के अनुसार चार पवित्र स्थलों पर होता है । अर्द्धकुम्भ 6 साल में एक बार होता है । किवदन्ती के अनुसार जब देवों और असूरों ने समुद्र मंथन किया तो अनेक बहुमूल्य चीजें निकली जिनमें उनमें एक घड़ा या कुम्भ अमृत से भरा हुआ निकला । अमृत, जिसे पीकर आदमी अमर हो जाये । कुम्भ को देवों के वैद्य धन्वन्तरी के हाथों में रखा गया । इसके बाद देवों और असुरों के बीच अमृत-कलश पर कब्जा करने के लिए संघर्ष हुआ । विष्णु भगवान सुन्दर मोहिनी रूप धारण कर अवतरित हुए । वे देवों और असूरों की अमृत पाने की लड़ाई का समाधान करने आये थे । कुम्भ में से अमृत की कुछ बूंदें छलककर हरिद्वार, उज्जैन, प्रयाग (इलाहाबाद) और नासिक भारत में है । इसलिए इन स्थानों पर महामेलों का 12 वर्ष के चक्र में आयोजन होता है । इन अवसरों पर देश-विदेश से साधु-सन्तों, धर्मपरायण लोगों और लाखों श्रद्धालुओं का इन स्थानों पर जमघट हो जाता है ।

इस अवसर पर अनेक अखाड़ों द्वारा निशुल्क भोजन की व्यवस्था होती है । लाखों लोगों को भोजन कराया जाता है । भोजन, जल, आवास ठहरने, सफाई, स्वास्थ्य संचार आदि के समुचित प्रबंध किये जाते हैं ।

होली (फूलडोल) - उतर प्रदेश का होली का त्यौहार भी विशेष रूप से प्रसिद्ध है । बरसाना और नन्दगंज को कृष्ण और राधा की लालास्थली माना जाता है । होली के दिन बरसाना की महिलाएं नन्दगाँव के पुरूषों पर रंग और गुलाल की वर्षा करती हैं । एक प्रकार की प्रतीकात्मक लड़ाई में उन पर लट्ठ भी बरसाती है । पुरूष अपनी रक्षा का प्रयास करते हैं । अगले दिन इसके बदले नन्दगाँव की महिलाएं बरसाना के पुरूषों पर यही दोहराती हैं । यह लट्ठमार होली भी एक तरह का हँसी-मजाक और उल्लास भरा आयोजन होता है न कि हानि पहुँचाने की रस्म ।

वृन्दावन की रथयात्रा- मार्च / अप्रैल - दस दिन तक मथुरा और वृन्दावन के बाजारों और मोहल्लों में विष्णु और लक्ष्मी की रथ पर सवारी निकाली जाती है । इस अवसर पर रंगजी के मंदिर में विशेष उत्सव मनाया जाता है ।

वृन्दावन का सावन उत्सव- जुलाई / अगस्त - एक हाथी को मगरमच्छ के जाल से मुक्त करवाने के प्रसंग की स्मृति में यह त्यौहारा मनाया जाता है । कथा के अनुसार विष्णु का हाथी एक बाद फूल चुनते समय पानी के नजदीक पहुँच गया । मगरमच्छ ने उसे अपने जबड़े में जगड़ लिया । हाथी ने भगवान विष्णु से रक्षा की प्रार्थना और सहायता की गुहार की । उसकी प्रार्थना सुनकर विष्णु ने उसे मुक्त कराया ।

वनयात्रा-अगस्त / सितम्बर - यह मान्यता है कि अगस्त/सितम्बर की अवधि में इन्द्र ने कुपित होकर भारी वर्षा की और ग्रामीणों के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया । कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाकर उसके नीचे ग्रामीणों को संरक्षण दिया । इस घटना का स्मृति में 'वनयात्रा' की जाती है । यह पूरे माह तक की जाती है । इस माह में श्रृद्धालु, कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित सभी स्थानों की यात्रा करते हैं । इस अवसर पर रासलीला मंडलियों द्वारा रासलीलाएं की जाती हैं ।

कंस का मेला-अक्टूबर / नवम्बर - फतेहपुर सीकरी और सीकरी में कृष्ण के मामा मथुरा के राक्षसवृति के राजा कंस पर कृष्ण की विजय के अवसर के रूप में भव्य मेले का आयोजन होता

है । मेले के बीच में कंस के पुतले रखे जाते हैं और कृष्ण और उनके भाई बलराम के रूप में दो लड़के फूलों से सजी लकड़ियों से पुतलों को मारते हैं । यह कंसवध के प्रतीक रूप में किया जाता है ।

15.2.3 पश्चिम भारत के क्षेत्रीय त्यौहार

पश्चिम भारत के त्यौहारों और उत्सवों की श्रृंखला में नवरात्रि, दीप-दीपावली, महावीर जयन्ती के समारोह गुजरात में तथा गणगौर, तीज, पुष्कर मेला आदि राजस्थान में जन्माष्टमी और गणेश चतुर्थी महाराष्ट्र में महत्त्वपूर्ण त्यौहार है ।

गुजरात - गुजरात के महत्त्वपूर्ण पर्वों में शामिल हैं -

महावीर जयन्ती - जैन धर्मावलम्बियों द्वारा गुजरात में स्थित तीर्थ गिरनार और पलिताना सौराष्ट्र में महावीर जयन्ती का त्यौहार मार्च-अप्रैल में विशेष रूप से मनाया जाता है । जैनमत के 24वें एवं अन्तिम तीर्थांकर महावीर की जयन्ती के रूप में यह मनाया जाता है ।

दीप-दीपावली-अक्टूबर / नवम्बर - यह भी जैनमतावलियों का पर्व है । इस दिन महावीर का निर्वाण हुआ । यह गिरनार, जुनागढ़ में विशेष तरह से दीपों के प्रज्ज्वलन के साथ मनाया जाता है ।

नवरात्रि-अक्टूबर / नवम्बर - यह त्यौहार वैसे तो पूरे भारतवर्ष में मनाया जाता है लेकिन संगीत, नृत्यों के रंगों से भरपूर गरबा के साथ गुजरात में इसकी रौनक देखने लायक होती है । दशहरा के बाद नौ-रात्रि तक गरबा की धूम रहती है ।

महाराष्ट्र - महाराष्ट्र में महाशिवरात्रि, होली, गोकुल अष्टमी या जन्माष्टमी और गोविन्दा की रौनक ही कुछ और होती है । 'नारियल दिवस' मानसून की विदाई का पर्व है । समुद्र में डुबकी लगाई जाती है ।

गणेश चतुर्थी-अगस्त / सितम्बर - गणेश चतुर्थी, महाराष्ट्र का बहुत ही लोकप्रिय उत्सव है । भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में बाल गंगाधर तिलक ने ऐसे राष्ट्रीय पर्वों को विशेष तौर से मनाने पर जोर दिया क्योंकि उनका मानना था कि इनसे राष्ट्रीय भावनाएं बलवती होती है । फूलों, रंग-बिरंगे कागजों आदि के साथ मांटी की गणेश-मूर्तियाँ बनाई जाती हैं । इन्हें घरों या सामुदायिक स्थानों या केन्द्रों पर स्थापित किया जाता है और 10 दिन तक संगीत और अर्चना के साथ भजनों का आयोजन होता है । गणेश चतुर्थी को इन प्रतीमाओं की शोभायात्रा के साथ लाखों लोग इन्हें 'गणपति बप्पा मौर्या' के नाम के साथ विसर्जित करते हैं । इसे विनायक चतुर्थी भी कहते हैं । स्थान-स्थान पर मेले लगते हैं ।

गोकुल अष्टमी-अगस्त / सितम्बर - जन्माष्टमी या गोकुल अष्टमी का त्यौहार भी इस क्षेत्र में अपनी विशेषताएं लिए होते हैं । सन्तों या वीरों की स्मृति में भी भव्य उत्सव मनाये जाते हैं ।

राजस्थान - राजस्थान के क्षेत्रीय उत्सवों, पर्वों और त्यौहारों मे तीज और गणगौर जैसे महिलाओं के महापर्वों का भी बड़ा महत्व है । तीज और गणगौर की सवारी निकाली जाती है । राज्य की राजधानी जयपुर में तो परम्परागत तीज और गणगौर की भव्य शोभायात्रा या सवारी में

आसपास के ग्रामीणों के लोकजीवन, लोकसंगीत और लोकधुनों का दृश्य अत्यन्त मनमोहक होता है, साथ ही देशी-विदेशी पर्यटकों के लिए भी ये उत्सव आकर्षण के विशेष केन्द्र हैं ।

अक्षय तृतीया या ‘ आखातीज ’ ऋषभदेव जयन्ती, नवरात्रि, दशहरा, दीवाली, अन्नकुट, गोवर्धन पूजा, शिवरात्रि, होली, ईद, महावीर जयन्ती के राजस्थान में विशेष और भव्य त्यौहार हैं।

गणगौर- मार्च / अप्रैल - बसन्त ऋतु में महिलाओं का महापर्व माँ गौरी या पार्वती की आराधना का पर्व है । यह त्यौहार विवाहित महिलाओं एवं बालिकाओं के लिए महत्त्वपूर्ण है । राजस्थान में कहावत है कि 'तीज त्यौहारां बावड़ी, तो डूबी गणगौर' अर्थात् श्रावण में तीज से त्यौहारों का मौसम आरम्भ होता है जो आठ-नौ माह बाद होली के पश्चात् गणगौर पर्व पर समाप्त होता है।

उसके पश्चात् गर्मी के मौसम में 3-4 माह तक त्यौहारों का सिलसिला कम हो जाता है । इस प्रकार गणगौर त्यौहारों का समापन पर्व होता है । देवी पार्वती की कई दिन अर्चना-पूजा की जाती है । इसके साथ रोचक प्रथाएं जुड़ी हैं । गणगौर की सवारी निकाली जाती है । वैसे तो यह त्यौहार, पूरे राजस्थान में मनाया जाता है लेकिन जयपुर, उदयपुर आदि स्थानों पर इसकी सवारी का परम्परागत शाही रंग-रूप होता है जो पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र होता है । सिटी पैलेस से सवारी निकलती है । महिलाएं, सिर पर कलश लिए बाग-बगीचों से हरी दूब लाती हैं । दूब से पार्वती के पूजन की रस्म पूरी होती है । कुछ दिनों तक इसके जारी रहने के पश्चात् माना जाता है कि गणगौर की सवारी के दिन, शिव द्वारा पार्वती को ले जाने के प्रतीक के रूप में शोभायात्रा के साथ इस त्यौहार को विराम दिया जाता है ।

उदयपुर और जयपुर में गणगौर की सवारी मे सजे हुए हाथी-घोड़े, शाही शान, लवाजमा आदि की निराली शान होती है ।

तीज-जुलाई - राजस्थान में, त्यौहारों का प्रारम्भ भी महिलाओं के महापर्व तीज के त्यौहार से होता है । यह त्यौहार भी माँ पार्वती के सम्मान में मानसून के आगमन के स्वागत में मनाया जाता है । दो दिनों तक देवी पार्वती की पूजा होती है । माना जाता है कि पार्वती अपने पीहर में आतिथ्य पाती है । तीसरे दिन दुल्हन के रूप में उसे सजाकर शोभायात्रा या सवारी के साथ पीहर से ससुराल के लिए रवाना किया जाता है । शिव-पार्वती के प्रसंगों से जुड़े रस्मों-रिवाज को प्रतीकात्मक ढंग से दोहराया जाता है । तीज का मेला लगता है । जयपुर मे गणगौर के मेले की तरह ही ऊँट, घोड़ों हाथियों और पूरी शाही राज के साथ तीज की सवारी निकलती है और जनजीवन एवं लोकजीवन के मोहक अन्दाज के साथ लगने वाला यह तीज मेला और सवारी भी पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र होता है ।

राजस्थान में गर्मी की तपन के बाद मानसून के आगमन की खुशियों का यह त्यौहार है। बागों में झूले लगते हैं । महिलाएं एवं बालिकाएं आनन्द के साथ इन झूलों पर झूलती हैं । महिलाएं मेहंदी रचाती हैं । सजधज के साथ तीज का त्यौहार मनाती है । इस अवसर पर ‘सिणजारा ’ की प्रथा भी है ।

पुष्कर मेला-अक्टूबर / नवम्बर - मानसून के आने पर खरीफ की फसल बोने के बाद किसान अपने पशु बेचने पुष्कर जाते हैं और खरीददार भी वहाँ आते हैं । यों पुष्कर में विशाल पशु मेला

वर्षों से भरता आया है! यहाँ राजस्थान के रंग बिरंगे परिधानों में सजी महिलाएं भी आती हैं । किसान, मेले के अवसर पर लोकगीतों एवं लोकधुनों के फुर्सत के समय में आमोद-प्रमोद की मुद्रा में होते हैं । जनजीवन के इन रंगों के आकर्षण के कारण पुष्कर जो हिन्दुओं के लिए अत्यन्त पवित्र स्थल हैं वह अब पशु मेले के अलावा पर्यटकों की पसन्द का प्रमुख केन्द्र बन गया है । यह कार्तिक माह में लगता है । यहाँ भारत का एकमात्र ब्रह्मा का मंदिर है । पुष्कर सागर ही नहीं बल्कि यह हिन्दुओं के तीर्थों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ है । इसे तीर्थराज कहा जाता है ।

ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती (गरीब नवाज) का उर्स - ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती, सूफी सन्तों की परम्परा के सन्त थे । वे, मुसलमानों के अत्यन्त पूजनीय या श्रद्धा के सन्त हैं । अन्य धर्मों के लोग भी उनके प्रति गहन आस्था रखते हैं । मुगल सम्राट अकबर तक ने अजमेर स्थित ख्वाजा की दरगाह पर आकर मथा टेका । ख्वाजा का उर्स सात दिन चलता है । भारत, पाकिस्तान एवं अनेक देशों के जायरीन यहाँ ख्वाजा के उर्स में आते हैं । इस अवसर पर कव्वालियों के भक्तिपूर्ण आयोजन होते हैं ।

15.2.4 मध्य भारत के त्यौहार

मध्य भारत अर्थात् आज का मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र एवं उड़ीसा के कुछ भागों में भी कई त्यौहार उत्तरी और पश्चिमी भारत के समान हैं ।

उज्जैन का महाकुम्भ और अर्द्धकुम्भ - क्षिप्रा नदी भारत के चार स्थानों में से है जिसके तट पर कुम्भ और अर्द्धकुम्म का परम्परा अनुसार मेला लगता है । महाराष्ट्र के नासिक में भी यह मेला लगता है ।

ग्वालियर का तानसेन उर्स - मुगलकालीन संगीत सम्राट तानसेन की स्मृति में आयोजित होता है । देशभर के संगीत कलाकार उज्जैन में इस अवसर पर अपनी कला प्रस्तुतियाँ देते हैं ।

होली, दीवाली, आदिवासी एवं मुस्लिम त्यौहार यहाँ मनाये जाते हैं । कुछ राष्ट्रीय एवं कुछ क्षेत्रीय त्यौहारों की यहाँ विशेष परम्पराएं हैं ।

15.2.5 दक्षिण भारत के त्यौहार

दक्षिण भारत में भी देश के अन्य त्यौहारों के समान कई त्यौहार मनाये जाते हैं । लेकिन केरल में ओणम और आन्धप्रदेश, तमिलनाडु में पोंगल, कर्नाटक तथा मैसूर में दशहरा, गोवा मे कार्निवाल, क्रिसमस, सेन्ट जेवियर आदि की विशेष पहचान है ।

सेन्ट जेवियर की फीस्ट - 3 दिसम्बर इस अवसर पर चर्चों में विशेष आयोजन होते हैं । बैंगलोर, दमन, केरल और बम्बई में भी यह दिवस विशेष आकर्षण लिए होता है ।

मैसूर का दशहरा - मैसूर का दशहरा, अपनी परम्परागत शानो-शौकत के लिए प्रसिद्ध है । 1610 ए.डी. में मैसूर के राजा ने इसे शुरू किया । इस नगर को रोशनी से सजाया जाता है । सजे हुए हाथी-घोड़ों और सिपाहसालारों की वेशभूषा में सैनिकों के दृश्यों के साथ दशहरा की सवारी निकलती है । आतिशबाजी और सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं । यह लोकप्रिय और भव्य आयोजन होता है ।

सर्वनाबेल गोला में महामस्तिकाभिषेक - वन्द्र हसान में एक बार जैन सन्त गोमतेश्वर का फूलों, शहद, दही, सोने-चाँदी से अभिषेक किया जाता है । यही गोमतेश्वर की एक हजार साल पुरानी ग्रेनाईट की मूर्ति है । मान्यता के अनुसार कथा है कि गोमतेश्वर का अपने भाई से युद्ध हुआ। उनकी विजय हुई और राज्य मिला लेकिन उन्हें युद्ध के प्रति घृणा या वितृष्णा हो गई । इसलिए राजपाट छोड़कर अपने भाई को दे दिया । उसने गोमतेश्वर की स्वर्ण मूर्ति बनवाई आदि की एक कथा इससे जुड़ी हुई है ।

सेन्ट फिलोबेना की फीस्ट - 11 अगस्त - मैसूर के सेन्ट फिलोमेना केथेडरल में प्रार्थना होती है और सन्त की प्रतीमा के साथ प्रोसेशन निकाला जाता है ।

पोंगल- जनवरी - मकर संक्रान्ति के दिन मनाया जाने वाला यह इस क्षेत्र का बड़ा पर्व है । इस अवसर पर आन्धप्रदेश में लोग अपने गुड़ियों के संग्रह प्रदर्शित करते हैं । तीन दिवसीय इस उत्सव के पहले दिन भोगी-पांगल, अगले दिन सूर्य-पांगल और तीसरे दिन पकवान अर्थात् चावल, मिठाई का महिलाओं का पोंगल होता है । तीसरे दिन की पोंगल भट्टपोंगल कहलाती है । पशुओं को देवों का चढ़ाया प्रसाद या खाना खिलाया जाता है । उनके सिंग रंगे जाते हैं । गर्दन फूलों से सजाई जाती है । पशुओं से संबंधित खेल होते हैं । सामुदायिक भोज भी होता है।

थ्यागराज पर्व - 1767 में जन्मे प्रसिद्ध कवि थ्यागराज की स्मृति में यह फेस्टिवल होता है । उन्होंने राम की प्रशंसा में काव्य रचनाएं की । थन्जाऊर के यज्ञ कवि के स्मारक पर संगीतज्ञ एकत्रित होते हैं ।

मीनाक्षी काल्यानम् / मदुरई रिवर फेस्टीवल-अप्रैल / मई - मीनाक्षी मंदिर से वेगई नदी के तट तक देवी मीनाक्षी (पार्वती का रूप) और सुन्देश्वर (शिव का रूप) की शोभायात्रा निकलती है । यह शिव-पार्वती विवाह और पार्वती की विदाई के प्रसंग से जुड़ा एक भव्य आयोजन होता है । श्रद्धालु पीले, लाल वस्त्र धारण करके गाते-नाचते हैं और आनन्द का दृश्य उपस्थित करते हैं ।

कावेरी नदी उत्सव-अगस्त - ग्रामीण देवों की प्रतिमाओं की शोभायात्रा के साथ ग्रामीण पुराने दस्तावेजों, दूध, चावल, लाल चूड़ियाँ आदि ले जाकर नदी को अर्पित करके प्रारम्भ करने का प्रतीक - त्यौहार है।

वेलानगनी का उत्सव-सितम्बर / अक्टूबर - रोमन केथोलिकों की मान्यता है कि ईसामसीह की माँ वर्जिन मेरी की मछुआरों को एक चमत्कारी मूर्ति नागापट्टम के पास कई सालों पूर्व वेलानगनी में मिली थी । इस प्रसंग के साथ अपने कष्टों के निवारण की कामना के साथ लोग यहाँ एकत्रित होते हैं ।

नवरात्रि, दशहरा अयोध्या पूजा-अक्टूबर / नवम्बर - भारत के अन्य स्थानों की तरह ही ये त्यौहार मनाये जाते हैं । दीवाली को यहाँ कृष्ण द्वारा नरकासुर-वध के प्रसंग में मनाया जाता है।

कार्तिकेय-नवम्बर / दिसम्बर - यह पूर्णिमा को प्रकाश-पर्व के रूप में मनाया जाता है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश और राजा महाबलि के प्रसंग इससे जुड़े हैं ।

वैकुण्ठ एकादशी- नवम्बर / दिसम्बर - विष्णु द्वारा रूकमगंधा की प्रार्थना सुनकर उसे वैकुण्ठ ले जाने के प्रसंग से जुड़े इस त्यौहार पर 20 दिन तक श्रीरंगम् में उत्सव मनाया जाता है । यात्री

इस अवसर पर आशीर्वाद पाने मंदिर में आते हैं । इसी प्रकार मीनाक्षी मंदिर मदुरई, कांचीपुरम, तिरूपति, श्रीरंगम् आदि मंदिरों में मंदिर उत्सव, टेप्पम् उत्सव आदि कई दक्षिण के विशेष क्षेत्रीय त्यौहार और उत्सव हैं । हर त्यौहार, के पीछे कोई प्रसंग, पौराणिक कथा या अर्थपूर्ण पृष्ठभूमि होती है ।

15.2.6 पूर्व एवं उत्तर- पूर्वी भारत के त्यौहार

बिहार के त्यौहार, उत्तरी पश्चिमी एवं मध्य भारत के त्यौहारों के लगभग समान हैं । बौद्ध गया में बुद्ध जयन्ती, पटना में गुरूपर्व, उड़ीसा के पुरी उत्सव में जगन्नाथ यात्रा, सिक्किम के बौद्ध-उत्सव, असम में बिहू, रासलीला, खेराई पूजा, बोडो समुदाय की आदि त्यौहार विशेष हैं।

भोगाली बिहू-जनवरी- यह असम का सर्दी की चावल की फसल से सम्बन्धित त्यौहार । भैंसा लड़ाई इसका एक आकर्षण है । नृत्य-गीतों, स्वादिष्ट व्यंजनों एवं खुशियों के साथ इसे मनाया जाता है ।

बसन्त पंचमी/ सरस्वती पूजा- जनवरी / फरवरी - बंगाल में विद्या की देवी सरस्वती को समर्पित यह उत्सव मनाया जाता है । शिक्षा से संबंधित लेख एवं पुस्तकें सरस्वती के सामने रखी जाती हैं । सरस्वती की प्रतीमाओं को प्रोसेशन के साथ बाद में पवित्र नदियो तक ले जाते हैं ।

डोल पूर्णिमा-मार्च / अप्रैल - यह होली में मिलता-जुलता त्यौहार हैं । कृष्ण की प्रतिमाओं में गुलाल, अबीर डाली जाती है । विष्णु के अनुयायी इसे प्रमुखतः मनाते हैं । इसे चैतन्य महाप्रभू की जयन्ती के रूप में भी मनाया जाता है ।

बंगाली नव वर्ष दिवस-अप्रैल - प्रातःकाल नदियों में स्नान करना, प्रभात फेरी, नृत्य-संमी आदि के साथ नव वर्ष का स्वागत करने बंगाल मे बैसाख में परम्परा है ।

गुरू बिहू-अप्रैल / मई - यह उतर-पूर्व का पशु त्यौहार है । हिन्दुओं के नववर्ष के प्रारम्भ होने पर पशुओं को हल्दी लगाकर सजाने और गुड़ आदि खिलाने की परम्परा है ।

रंगोली बिहू-अप्रैल / मई - असम में लड़कियाँ अपनी पसन्द के युवाओं की रंगीन कसीदे के रूमाल भेंट करती हैं और वे भी उन्हें उपहार देते हैं । नृत्य एवं रंगों से भरा यह त्यौहार है ।

पुरी का भगवान जगन्नाथ उत्सव- जून / जुलाई - विष्णु के अवतार भगवान् जगन्नाथ की रथयात्रा में जगन्नाथ, उनके भाई बलभद्र एवं बहिन सुभद्रा की रथयात्रा, मंदिर से निकाली जाती है । 7 दिन के बाद पूनः उन्हें मंदिर में ले जाकर स्थापित किया जाता है । इसके साथ कई प्रसंग और इन्द्रद्युम्न तथा विश्वकर्मा की कथाएं जुड़ी हुई हैं ।

रामलीला-अक्टूबर / नवम्बर - इस अवसर पर मणिपुर में कृष्ण लीलाओं के भव्य कार्यक्रम होते हैं ।

इनके अलावा बंगाल में लक्ष्मी पूर्णिमा, पौससक्रान्त गंगा सागर मेला आदि त्यौहार भी क्षेत्रीय त्यौहारों में शामिल हैं ।

15.3 भारत के मेले

राजस्थान के त्यौहारों और उत्सवों की लम्बी श्रृंखला है । ये धार्मिक विश्वासों, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन एवं जीवन्त दर्शन के प्रतीक हैं । भारत के इन त्यौहारों और मेलों के बीच अटूट सम्बन्ध है । त्यौहारों की चर्चा में मेले भी संलग्न हैं । इनमें दिल्ली में 60 किमी. दूर गढ़मुबुतेश्वर, आगरा के पास भक्तेश्वर मेला, बिहार का सोनपुर मेला, महाकुम्भ, अर्द्धकुम्भ, खजुराहो नृत्य समारोह आदि अनेक रोचक, मनोरंजन एवं जीवन के रंगों से भरपूर विशाल मेलों का आयोजन होता है । राजस्थान में भी विविधता से पूर्ण पशु मेले धार्मिक आस्थाओं से जुड़े मेलों आदि का भव्य आयोजन होता है । इनमें मेड़ता का पशु मेला, झालरापाटन का गोमतेश्वर मेला, नौहर के पास गोगा मेडी का मेला, प्रसिद्ध पुष्कर मेला, चन्द्रभागा मेला (झालरापाटन), शिवरात्रि मेला (करौली, सवाईमाधोपुर), निम्बो का नाथ जी घोड़ों का मेला, मालीनाथ मेला, बालोतरा आदि विविधतापूर्ण भव्य मेले भी पर्यटन आकर्षण के केन्द्र हैं ।

15.4 सारांश

इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक विरासत की सुदृढ़ता विविधता एवं गतिशीलता का आधार भारत के मेले और त्यौहार हैं जिनमें संस्कृति के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है ।

15.5 उपयोगी साहित्य

1. फोडर ई एण्ड कर्टिस : फोडर्स गाईड इन्डिया
2. एस.एन. कौल : टूरिस्ट इन्डिया, बम्बई गटवेड्स फॉर इन्डिया

15.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लगभग 200 शब्दों में भारत के किन्हीं तीन राष्ट्रीय त्यौहारों पर आलेख प्रस्तुत करें ।
2. टीचर्स दिवस, स्वतन्त्रता दिवस एवं अम्बेडकर जयन्ती पर टिप्पणियाँ लिखें ।
3. अपने राज्य के परम्परागत मेलों की सूचि बनायें ।
4. पर्यटकों एवं यात्रियों का प्रमुख लक्ष्य क्या होता है । उन्हें किस प्रकार की सुविधाओं की आवश्यकता पड़ती है ।

इकाई - 16 : भारतीय व्यंजन

रूपरेखा:

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 भोजन का संस्कृति से सम्बन्ध

16.3 भोजन के प्रति आधुनिक सोच

16.4 कैसे बने भारतीय व्यंजन लोकप्रिय

16.5 पर्यटन मे भोजन का स्थान

16.6 खानपान का ऐतिहासिक विश्लेषण

16.6.1 वैदिक काल

16.6.2 मौर्य काल

16.6.3 गुप्तकाल

16.6.4 मध्यकाल

16.6.5 मुगलकाल

16.6.6 अंग्रेजी शासनकाल

16.7 आधुनिक युग में भोजन

16.8 सारांश

16.9 उपयोगी साहित्य

16.10 अभ्यास प्रश्न

16.0 उद्देश्य

भोजन, मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है । लेकिन भारत में इसका आचार-विचार और संस्कृति से सदैव निकट का रिश्ता रहा है । यहाँ व्यंजन पकाने, उन्हें खाने आदि का विधि-विधान है क्योंकि भारतीय जीवन में यह मान्यता है कि जैसा खाओं अब, वैसा ही बनता है मन । अर्थात् भोजन का नाता केवल शरीर से ही नहीं है । यह मनुष्य के मन, सोच-विचार एवं व्यवहार को भी प्रभावित करता है । इसलिए भोजन को सात्विक एवं तामसिक, दो भागों में बाँटा गया है । सात्विक भोजन से सद्विचार प्रगट होते हैं और तापिस भोजन से अवांछनीय व्यवहार व्यक्त होता है ।

इस भारतीय चिन्तन को कई अनेक विद्वानों ने भी पुष्ट किया हे और कई देशों की संस्कृतियों ने भी स्वीकार किया है । फ्रांसीसी वकील एक्थेलम ब्रिलान्ट ऐवेरिन की पाकविद्या पर लिखी गई प्रसिद्ध कृति - "दी फिजियोलॉजी ऑफ टैस्ट" में अब से 150 से भी अधिक साल पहले लिखा गया था कि "मुझे बतायें कि आपका भोजन क्या है और मैं यह बता दूँगा कि आप क्या हैं?" इस सूत्र को आधुनिक मानव वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है । व्यक्तित्व निर्माण भी भोजन की अहम् भूमिका प्रतिपादित की गई है ।

खाद्य पदार्थों को खाने योग्य बनाने के तरीकों, उनका चयन करने, खाने के विषय में निर्धारित मान्यताएं रीति-रिवाज और नियमावली आदि समाज विशेष के कई पक्षों पर प्रकाश डालती है । भारत में तो जीवन के हर व्यवहार को धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश से जोड़ा गया है । यहाँ आहार को अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ सांस्कृतिक पहचान का भी एक प्रमुख साधन माना गया है ।

इसलिए इस इकाई के अध्ययन से आप भारतीय जीवन में भोजन के महत्त्व को जानकर सांस्कृतिक परिप्रेक्ष में भारतीय व्यंजनों, भोजन से जुड़ी परम्पराओं आदि को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकेंगे ।

इकाई का उद्देश्य भारतीय सन्दर्भ में भोजन की महता प्रतिपादित करने के साथ-साथ इससे जुड़े कई पहलुओं पर प्रकाश डालना है । दुनियाँ भर के पर्यटकों की भारतीय भोजन एवं इस सन्दर्भ में प्रचलित विभिन्न परम्पराओं में गहन रूचि रहती है और आप इस इकाई के अध्ययन के बाद उनकी जिज्ञासा की पूर्ति करने में सक्षम हो सकेंगे ।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में न केवल भारतीय सांस्कृतिक जीवन में भोजन के महत्व की चर्चा की जायेगी बल्कि दुनियाँ के विभिन्न भागों के लोगों की खानपान की आदतों का भी अध्ययन करने का प्रयास किया जायेगा । भोजन और व्यवहार के बीच अन्तर्सम्बन्धों की पड़ताल करने की भी कोशिश की जायेगी । परिवार या समाज में एक साथ भोजन करने में मानवीय सम्बन्धों को बेहतर बनाने जैसे कई पक्षों पर विश्लेषण करने का भी प्रयास किया जायेगा । खानपान के कई प्रतीकात्मक अर्थ भी होते हैं । जन्म से मृत्यु तक के संस्कारों और अनुष्ठानों से भी आहार का नाता है ।

खानपान की भारतीय पद्धति और परम्पराएं आपको इनके सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक महत्त्व से परिचित करायेगी और भारतीय भोजन के बारे में आप अधिक कुशलता के साथ इस सम्बन्ध में लोगों को जानकारी दे सकेंगे । इस इकाई में यह चेष्टा की गई है कि इसका अध्ययन आपकी पुष्ट खुराक बने और आप विस्तार से भारतीय धर्म और दर्शन में भोजन की महिमा का स्वाद चख सकें । इस इकाई में आप जलवायु, भौगोलिक स्थितियों आदि के कारण देश की विविधता में भोजन की विविधता को समझ सकेंगे ।

16.2 भोजन का संस्कृति से सम्बन्ध

भोजन के साथ स्वाद, सुगंध और संस्कृति का भी सम्बन्ध है । भारतीय जीवन में तो माना गया है कि हम जीने के लिए भोजन करते हैं, न कि भोजन के लिए जीते हैं । स्वास्थ्य और भोजन का भी आपसी सम्बन्ध है । आहार की जरूरत, मनुष्य की क्रियात्मक आवश्यकता है । आहार और संस्कृति की धारणाओं के बारे में जीव-विज्ञान और संस्कृति की धारणाएं अलग-अलग है । वैसे भोजन से मनुष्य की ऊर्जा की आवश्यकता पूरी होती है । कुछ समाजों में जन्तु-प्रोटिन, वसा, शर्करीयुक्त खाद्य पदार्थों और मादक पदार्थों के सेवन की प्रवृति पाई जाती है । इनके पोषक तत्व संदेहास्पद हैं लेकिन परम्परागत दृष्टि से देखें तो लोग स्वभाववश उसी

आहार का उपयोग करते हैं जो उनकी पारिस्थितिकी या शारीरिक क्रियाओं के लिए अनुकूल है । अनादिकाल से मनुष्य अपने पर्यावरण में उपलब्ध खाद्य सामग्री का उपयोग करता आया है ।

उदाहरण के लिए भारत, एक कृषि प्रधान देश रहा है और उसका वनस्पतियों एवं पशुओं से निकट का सम्बन्ध रहा है । इसलिए भारत में लोग वानस्पतिक मूल के खाद्य-पदार्थों को प्राथमिकता देते हैं । मौसम के अनुरूप खाद्य पदार्थों के उपयोग में परिवर्तन भी किया जाता है । खाद्य पदार्थ, फल, सब्जियाँ आदि प्राकृतिक उपज है । इसलिए आहार को प्रकृति या देवों का प्रसाद समझकर उन्हें भोग लगाकर फिर भोजन करने की परम्परा चली और यहीं से भोजन का धर्म और संस्कृति से नाता जुड़ गया । मांसाहार की प्रवृति विभिन्न कालों में चली । लेकिन इस प्रकार के पदार्थों के लिए भारतीय जीवन के आदर्शों में कोई स्थान नहीं है । यहाँ तो भोजन में शामिल हर व्यंजन के उपयोग के समय, विधि आदि के नियम हैं । देवों की पूजा में मूंग, गेहूँ, चावल, जौ आदि का उपयोग जिस प्रकार किया जाता है, वह एक प्रतीकात्मक सांस्कृतिक सन्देश देता है । स्नान करके पवित्र भाव से, रसोई में चौका लगाकर भोजन तैयार करना, उसे विधिवत् बैठकर ग्रहण करना आदि की एक लम्बी परम्परा है । भोजन को औषधि माना गया है जिसे अच्छे और स्वस्थ एवं दीर्घायु जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है ।

यद्यपि भारत का अपना दर्शनशास्त्र और विज्ञान है भले ही लोगों को दूर के ढोल सुहाने लगते हैं । यही अन्य शास्त्रों की तरह पाक विज्ञान और पाकशास्त्र है । पश्चिमी देशों में भोजन का तौर-तरीका अलग हैं । वहाँ भौतिकवादी समाज है । वे जालीनूस के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि अन्तर्गहित भोजन देह-द्रव्यों में परिवर्तित हो जाती है और उनके सन्तुलित सम्बन्धों पर ही स्वास्थ्य निर्भर करता है । भारत में आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार भोजन और शरीर का अटूट सम्बन्ध है । यह भोजन को औषधि मानता है और औषधियों में भी जड़ी-बूटियों अर्थात् प्रकृतिप्रद वस्तुओं का उपयोग करता है । इसमें कब क्या खायें, क्या न खायें आदि का हर मौसम में अलग-अलग विधि-विधान है । चीन की परम्परा में भी ब्रह्माण्ड के मूल-तत्त्वों, स्थान, ऋतु, समय, व्यक्ति के लक्षणों, आनुवांशिक बातों आदि पर विशेष ध्यान दिया गया है ।

16.3 भोजन के प्रति आधुनिक सोच

यद्यपि विविध व्यंजनों को तैयार करने और त्यौहारों और पर्वो पर प्राचीन सोच और परम्पराएं आज भी देखने को मिलती है लेकिन आधुनिक युग में दुनियाँ इतनी करीब आ गई है कि देशों की परम्परा और पहचान बदल गई है लेकिन यह परिवर्तन कितना ही प्रबल हो लेकिन परम्पराओं और मान्यताओं की जड़ें इतनी गहरी जमी होती है कि उन्हें पूर्णतया उखाड़ना सम्भव नहीं है । भारतीय सन्दर्भ में तो यह सच है कि यहाँ के विगत ने साँसें लेना बन्द नहीं किया है । दुनियाँ के विभिन्न देशों के जो पर्यटक भारत भ्रमण पर आते हैं, उनकी अपने-अपने देश की भिन्न परम्पराएं और आहार को लेकर अलग-अलग सोच और तौर-तरीके होते हैं । आधुनिक शैली के खानपान से भी सभी परिचित हैं । ऐसे में भारत की सांस्कृतिक विरासत को देखने का आनन्द लेते समय उनकी इच्छा भारतीय व्यंजनों के बारे में जानने तथा इनका स्वाद चखने की भी होती है ।

भारत में भी बड़े-बड़े होटल हैं और उनके अपने देशी-विदेशी विविध व्यंजन बनाने के तरीके हैं । लेकिन भारत की पहचान उसके परम्परागत आहार एवं सोच से है । ये परम्पराएं इसलिए भी परिवर्तनों के झंझावात में जीवित रह पाई हैं क्योंकि मनुष्य में स्थानीय खाद्य-पदार्थों के बारे में अनुराग का भाव, एक अनुवांशिक लक्ष्य है । बचपन से ही व्यक्ति के भीतर खाने की आदतों के प्रति भावात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है । यह सच है कि इस युग में बदलाव की प्रक्रिया प्रबल है और धार्मिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक मान्यताएं कहीं कमजोर होने लगी है । अब लोग स्वाद देखते हैं, खाते हैं और बस जीते हैं । लोग सतह पर जीने की मुद्रा में हैं ।

अब खानपान के तौर-तरीके इतने बदल गये हैं कि संस्कृति और भोजन का रिश्ता अब गौण बातें हो गई हैं । कहीं भी, कैसे भी, सामिष या निरामिष, सात्विक या तामषिक भोजन कर लें लेकिन भोजन का रिश्ता जो वैज्ञानिक आधार लिए हुए है, उसे नकारा नहीं जा सकता । भारत के विविध प्रदेशों, अंचलों की अपनी खान-पान की आदतें हैं और इस कारण आज भी भारत में मौलिक-भारतीय व्यंजनों की सुगंध बसी हुई है । लेकिन एक विदेशी विचारक का भिन्न मत है । वे मानते हैं कि संस्कृति को भौतिकी प्रयोगशाला मानें तो जिस क्षण किसी मूल मिश्रण में कोई तत्व मिलाया जाता है तो वह एक भिन्न वस्तु में परिवर्तित हो जाता है । भोजन पकाने और खाने से जब काँटे - चम्मच, माँस आदि जुड़ गये तो प्राचीन सांस्कृतिक पहचान इतनी बदल गई है कि मौलिकता पर वापस आना सम्भव नहीं हो सकता चाहे काँटे-चम्मच का उन्मूलन कर दें । संस्कृति और इतिहास को ये बदले हुए जल के समान मानते जो पहचान-रूपी नदी में दुबारा घुसना असम्भव-सा बना देता है ।

बहरहाल, दुनियाँ के साथ भारतीय परिवेश भी बदला है लेकिन भारतीय रसोई में आज भी भारतीय-व्यंजनों की महक बाकी है । अत: यहाँ इनके पकाने, खाने और तौर-तरीकों की विशेष पहचान के विविध पक्षों पर दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे ।

16.4 कैसे बने भारतीय व्यंजन लोकप्रिय

भारतीय संगीत, नृत्यों, हस्तशिल्प और कलाओं की तरह ही भारतीय व्यंजनों के अलग-अलग रंग भिन्न-भिन्न स्वाद और प्रकार हैं । फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो चाईनीज का अन्य यूरोपीय खाने के बजाय भारतीय भोजन में विदेशी पर्यटकों की अधिक रूचि नहीं पाई जाती । इसका कारण शायद यह है कि भारतीय व्यंजनों में मसाले अधिक प्रयोग में लिए जाते हैं । इसलिए विशेषकर पश्चिमी देशों के पर्यटकों का ख्याल होता है कि भारतीय व्यंजनों की गर्म तासीर है । वे इसे स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं मानते । जबकि भारत की सब्जियों और भोजन में काम आने वाले मसालों जैसे हल्दी, धनियाँ, मिर्च, नमक, गरम मसाला आदि की अपनी-अपनी खुशबू और स्वाद होता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो हल्दी, शरीर में खून को साफ रखती है । इसी प्रकार अन्य मसालों का भी औषधिये महत्व है । लेकिन मसालों से सब्जियों एवं भोजन में उत्पन्न होने वाले औषधिये एवं रासायनिक गुणों के बारे में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है । इससे भारतीय व्यंजनों के प्रति गलत धारणाऐं कायम रहती है । साधारणतया कोई भी पर्यटक जिस प्रकार किसी देश-विशेष की सांस्कृतिक धरोहर, परम्परागत जीवन

जीवनशैली, संगीत, नृत्य आदि में जिस प्रकार रूचि रखता है, वैसे भी वह वहाँ के व्यंजनों के स्वाद का भी एहसास करना चाहता है ।

भारत में इतने प्रकार के पकवान, इतनी भोजन की विविधता, सुगंध और जायके, बावजूद इसके ये भ्रान्तियों के कारण लोकप्रिय नहीं हो पाते, जितने होने चाहिए । रोम, वियना या पेरिस जैसे कई देश हैं जो पर्यटकों को अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं की ओर आकर्षित करने के साथ-साथ अपने परम्परागत भोजन की ओर भी उनको खींचने का प्रयास करते हैं । स्वास्थ्यवर्द्धक ढंग से रचना तैयार करने, भोजन के स्थान या डाईनिग हॉल आदि को सजाने, आन्तरिक सज्जा से वातावरण को भी परम्परागत रूप देने का प्रयास करते हैं । साथ में संगीत के माध्यम से भी वातावरण को खुशनुमा बनाने की चेष्टा करते हैं । भारत में भी इस दिशा में कई प्रयास किये जाते हैं ।

लेकिन इस ओर अभी बहुत कुछ सोचा जाना और किया जाना शेष है । पर्यटकों की स्वाभाविक रूचि को देखते हुए व्यंजन पकाने, परोसने आदि के परम्परागत तौर-तरीकों में थोड़ा परिवर्तन करके प्रमुख पर्यटन स्थलों पर भारतीय व्यंजनों की लोकप्रियता बढ़ाने के विशेष प्रयास करने की जरूरत है । इस बारे में एलपित नामक पर्यटन विशेषज्ञ का कहना है कि भारतीय खाद्य पदार्थों एवं परम्परागत रूप से तैयार की जाने वाली शराब या पेय पदार्थों की लोकप्रियता बढ़ाने की गुंजाइश है क्योंकि इनमें यह क्षमता है कि ये अपने जायके से किसी को भी सन्तुष्टि दे सकते हैं ।

इसका कहना है कि भारतीय व्यंजनों एवं पेय-पदार्थों की अत्यधिक विविधता और भिन्न स्वादों, क्षेत्रीय विशेषताओं और स्वास्थ्यवर्द्धक होने के बावजूद भी इनकी लोकप्रियता में वृद्धि न होना, समझ में नहीं आता है इसलिए उसका सुझाव है कि सांस्कृतिक पर्यटन के इस पक्ष के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा करने की दिशा में विशेष योजना एवं क्रियान्वयन की आवश्यकता है । इस क्षेत्र के विकास की काफी सम्भावनाएं मौजूद हैं ।

व्यंजनों की विशेषताओं, इसके स्वास्थ्य सम्बन्धी पक्षों और महक को विस्तार देने पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना पर्यटन विकास के अन्य पक्षों पर जबकि पर्यटन विकास का यह भी एक महत्त्वपूर्ण बिन्दू है।

16.5 पर्यटन में भोजन का स्थान

यह बात पर्यटन का सच है कि हर पर्यटक परम्परागत भोजन का स्वाद लेने की इच्छा रखता है लेकिन सांस्कृतिक नीति एवं उसे तौर तरीकों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होगा कि मांग के अनुरूप होटल या रेस्तरांओं में तो पर्यटकों के स्थान को पूरा करने के लिए परम्परागत भारतीय ' डिसेज ' या व्यंजन परोसने के प्रयास किये जाते हैं । लेकिन, पर्यटन नीति, उसके प्रचार-प्रसार और प्रयासों को देखें तो संस्कृति के विविध पहलुओं पर ध्यान देकर पर्यटन विकास के प्रयासों में भोजन को गौण माना गया है । जबकि भारत में भोजन केवल पेट भरने या शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को पुष्ट करने मात्र का साधन नहीं है । भारतीय जीवन में भोजन के साथ, जैसा कि बताया जा चुका है, संस्कृति का निकट का रिश्ता है । भारत में भोजन संस्कृति का अभिन्न अंग है ।

इसलिए सांस्कृतिक पर्यटन के विकास के लिए संस्कृति के अन्य पक्षों की तरह भोजन को भी पर्यटन विकास में उचित स्थान दिया जाना चाहिए । दरअसल, जिस प्रकार सहयोग या मित्रों, सम्बन्धियों को भोजन पर आमंत्रित करके सामाजिक समबन्धों को बेहतर बनाने का माध्यम बनाया जाता है और उत्सवों एवं त्यौहारों की शोभा एवं खुशियाँ नाना प्रकार के विशेष पकवानों के साथ बढ़ाई जाती है । ठीक वैसे ही पर्यटन को सरस बनाने के लिए पर्यटन में भोजन का स्थान होना चाहिए । अभी पर्यटन की दृष्टि में भोजन की महक कम लगती है ।

16.6 खानपान का ऐतिहासिक विश्लेषण

किसी भी देश या प्रदेश का खानपान और वेशभूषा वहाँ की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है । सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य का भोजन का तौर-तरीका कई परिवर्तनों से गुजरा है । भारत में वैदिक काल के बाद मुस्लिमों के आगमन और उसके बाद अंग्रेजों के प्रभाव से भारतीय खानपान कई चरणों को पार करता आया है ।

सभ्यता के आरम्भिक दौर में फल-फूल, पेडों की छाल, माँस आदि का भोजन किया जाता था । कृषि-अवस्था में आने पर यह बदला । वह अन्न, दूध, दही इत्यादि का सेवन करने लगा । मुस्लिम अपने साथ भोजन के अपने तरीके लाये और अंग्रेज अपने । उसके बाद यातायात, संचार का विकास हुआ । लोग विदेशों के सम्पर्क में आये और भारतीयों की व्यंजन शैली पलटती गई । प्रागैतिहासिक काल से चलें तो वनों के बीच आदमी का भोजन वृक्षों के पत्ते, छाल, कन्दमूल, फल आदि थे । वह शिकार करना सीखा तो पशुओं का शिकार करके निरामिष बना । लेकिन खेती करने लगा तो गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्का आदि अनाज, उसका खाद्य बन गया । इसी प्रक्रिया से धरती से उपजने वाले चावल, मूंग, दालें वगैरह खाने लगा ।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के मोहनजोदड़ो की खुदाई के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आदमी ने गेहूँ को ओखली में कूटकर आटा बनाना और रोटी बनाना सीख लिया था । अग्नि का आविष्कार हुआ तो भोजन पकाने की विधियाँ शुरू हुई । वैदिक काल में जौ, चावल, दूध आदि मुख्य भोजन बने । मिट्टी एवं धातु के बर्तनों में खाना पकने लगा । गाय का गर्म दूध पसंदीदा पेय था ।

16.6.1 वैदिक काल

वैदिक काल में भारतीय सभ्यता का काफी विकास हो चुका था । वे जो, चावल आदि अनाज को कूटकर, दूध या मक्खन मिलाकर रोटी बनाते थे । वे फलों, साग-सब्जियों का भी बहुत प्रयोग करते थे । कुछ लोग माँस का भक्षण भी करते थे । कुछ लोग, जौ या चावल से बनी सुरा का पान करते थे । पहाड़ी पत्ती के इस में दूध, घी मिलाने से जो पेय बनता था, उसे सुरा पान कहते थे । लेकिन महाकाव्य काल में भारत में खानपान सादा था और साधारणतया लोग शाकाहारी थे । गौ वध निषेध था । इस युग में फल, शाक-सब्जी, मसालों, नमक, गुड़, शक्कर, कन्दमूल आदि के प्रयोग का उल्लेख भी मिलता है । भोजन से विभिन्न

प्रकार के व्यंजन जैसे लड्डू, पेड़े, कचौरी, मालपुआ, लस्सी, खीर, भात, खिचड़ी, सत्तू आचार भी भारतीय व्यंजन शैली का अंग बन गये थे ।

16.6.2 मौर्यकाल

मौर्यकाल से पूर्व उत्तरी-पूर्वी भारत में आमतौर पर चावल खाया जाता था । जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं । खीर भी लोकप्रिय व्यंजन था । गेहूँ की रोटी का भी जातकों में वर्णन मिलता है । सब्जी में लौकी, बैंगन, कद्दू तथा सरसों के साग एवं फलों में आम, सेब, खजूर, खूब खाये जाते थे । मांसाहारी लोग भी थे लेकिन वेदों का अध्ययन करने वाले शाकाहारी थे । बौद्ध ग्रन्थों में माँस के बाजार का जिक्र है और पशुबलि भी होने लगी थी । गरीब लोग बासी रोटी, सत्तू, तले हुए सेम के बीज खाकर जीवनयापन करते थे । सन्यासी और ब्राह्मण शराब से परहेज करते थे । इस काल में आम, केले, जामुन, फलसा, अंगूर, नारियल आदि के रस से शरबत भी बनाये जाते थे ।

मौर्यकाल के साहित्य में पके चावल एवं पकी रोटी आदि बेचने एवं शराब पर सरकारी नियन्त्रण के सन्दर्भ आते हैं । उच्च वर्गों के लिए विशेष भोजन स्वीकृत एवं प्रतिबंदित था । लहसुन, मशरूम, ऊँट, भेड़, बिने बछड़े की गाय आदि के दूध पर पाबन्दी थी । मांसाहारियों के प्रति समाज का रूख ठीक नहीं था और जीवों को मारना पाप समझा जाता था । मछली भक्षण भी अच्छा नहीं माना जाता था ।

16.6.3 गुप्तकाल

मौर्यकाल के समान ही गुप्तकाल में भी निरामिष एवं सामिष भोजन का चलन था । शाकाहारी लोग गेहूँ, जौ, चावल, चीनी, दाल, दही, घी आदि का प्रयोग करते थे । कई प्रकार की सब्जियों का चलन हो गया था ।

इस काल के भोजन के बारे में चीनी यात्री फाध्यान ने लिखा है कि " बाजारों में माँस एवं मदिरा की दुकानें नहीं हैं । सुअर एवं मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज व लहसुन नहीं खाते, शराब नहीं पीते, केवल चांडाल शिकार खेलने एवं माँस बेचते हैं।" लेकिन कुछ लोगों का मानना है कि चीनी यात्री का वर्णन पूर्णतः ठीक नहीं है । ऐसे लोग भी थे जो मादक पदार्थों का उपयोग करते थे ।

16.6.4 मध्यकाल

तत्कालीन स्रोतों से ज्ञात होता है कि भारत में चावल का प्रयोग अधिक होता था । उत्तर भारत में उत्सवों पर गेहूँ का उपयोग अधिक होता था और दक्षिण में चावल का । मोदक, गुड़धन्थि, हलुवा, खीर, तिलकुट, मधु, गुड़ आदि का काफी प्रयोग होता था । गेहूँ, जौ, चने भूनकर सत्तू बनाया जाता था । चावल का चिबड़ा उस समय भी प्रचलित था । नारियल, अंगूर, बादाम, संतरा, अनार, आम, नींबू आदि का भी फलों में उपयोग होता था ।

भारतीय जीवन में इतनी उन्नति हो चुकी थी कि अलबरूनी ने लिखा है कि भारत के लोग गोबर से लीपे चौके में बैठकर भोजन करते हैं । वे जूठा भोजन नहीं खाते । वे मिट्टी या

पत्तों के बने बर्तनों का उपयोग करते हैं । खाने के बाद पत्तों को फैंक देते हैं । धातु के बर्तनों को साफ करके पूनः काम में लेते हैं । खाने से पूर्व हाथ, मुँह, पाँव धोना अनिवार्य है ।

16.6.5 मुगलकाल

भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित होने के बाद यहाँ प्रचलित खाद्यान्नो एवं भोज्य खाद्य पदार्थों में परिवर्तन आया । यद्यपि खाने-पीने की वस्तुएं इस देश में सभी क्षेत्रों में लगभग समान थी लेकिन भोजन बनाने की विधियाँ एवं व्यंजनों में प्रादेशिक, क्षेत्रीय या स्थानीय स्तरों पर बहुत भिन्नताएं थी ।

हर वर्ग का भोजन भिन्न-भिन्न था । देश के सभी भागों में चावल, बाजरा, गेहूँ ज्वार, जौ, चना आदि अनाज एवं विविध प्रकार की सब्जियाँ उपलब्ध थी । इबने बतूता के अनुसार लोग ज्वार और मटर की रोटी खाते थे । दौलताबाद क्षेत्र में लोग चावल, सब्जी, सरसों का तेल काम में लेते थे । माँस खाना या मदिरापान करना पाप समझा जाता था । इस काल में भी अन्य युगों की तरह ही शाकाहारी एवं माँसाहारी थे लेकिन हिन्दू पंडित, ब्राहमण, जैन, बौद्ध एवं वैष्णव मतों को मानने वाले हिन्दू तथा साथ ही मुस्लिम संत शाकाहारी थे । हर प्रकार की दालें एवं हरी सब्जियाँ उपलब्ध थी । गेहूँ और चने के आटे में मसाले डालकर स्वादिष्ट रोटियाँ बनाने का चलन था । कभी-कभी आटे में चीनी, घी डालकर तला भी जाता था । बेसन की पुड़ी में पिसी हुई दाल एवं मसाले भरकर खाने का प्रचलन भी था । पान के पत्तों को बेसन में लपेटकर पकोडियाँ बनाई जाती थी ।

अमीर खुसरो ने दही, पनीर, लोजीना, फलूदा एवं जलेबी का उल्लेख किया हे । हलवा, गाजर का हलुवा, रेवड़ी, समोसा आदि का भी उस काल के साहित्य में जिक्र है । उस समय 65 प्रकार की मिठाईयों के बारे में भी जानकारी मिलती है । पृथ्वीराज रासो में वर्णन मिलता है कि घी, दूध से अनेक व्यंजन बनाये जाते थे । अनेक प्रकार की हरी सब्जियों, अचार, मट्ठा, दही, खीर, कड्डी आदि उस समय प्रचलित थे । शासक वर्ग के यहाँ भात, पुड़ी, रोटी, घी, मक्खन, रबड़ी, खिचड़ी आदि व्यंजन बनते थे । मुल्ला दाऊद ने लड्डू कसार मुंगौरा, खेड़ूई, मिकौरा, लस्सी, पकौड़ी, हलवा, खिरमा आदि का उल्लेख किया है । बंगाल में भी अनेक दालों एवं व्यंजनों के बारे में जानकारी मिलती है । गुजरात में खाजा, लड्डू, चावल, दाल, पापड़, बड़ी, मक्खन, दही, मट्ठा, खीर, छाछ आदि का प्रचलन था । कई प्रकार के अचार जैसे नींबू आम, मिर्च, अदरक इत्यादि भी चलन में थे ।

उस समय अनार, अंगूर, सेब, तरबूज, संतरा, अंजीर, आम, जामुन आदि फलों के उत्पादन एवं समाज में इनके सेवन की जानकारी मिलती है । कटहल, जामुन, महुआ, कसेरू, अनार आदि फलों का भी वर्णन है । अखंपामी अलंकशदी ने यहाँ नारियल के अधिक पैदा होने का जिक्र किया है । बाबर नामा में अमृतफल, आमलवेद, पानवीटी, सदाफल, संतरा, गलगल, नींबू, तरबूज, नारंगी, नारियल, ताड़, कटहल, आम, अनार, करौंदे, गूलर, महूआ, इमली, केला, जामुन का विशेष उल्लेख मिलता है ।

जायसी, विद्यापति एवं इब्नेबतूता ने लिखा है कि मछली का बाजार लगता था और वे मछली खाते थे । मोहम्मद तुगलक के सार्वजनिक भोज प्याज, अदरख डालकर माँस, समोसा, अखरोट बादाम का मसाला डालकर खाना पकता था तथा भूना मूर्गा अमिष भोजन के रूप में दिया जाता था । इस काल में मछलियाँ, बकरे, बतख एवं इस प्रकार जीवों के माँस के उपयोग के चलन के कई उल्लेख मिलते हैं और मुगलकाल में माँस का उपयोग बढ़ा ।

विमल भट्ट ने लिखा है कि जंगली जानवरों, पक्षियों का माँस, जल के आसपास रहने वाले जन्तुओं का माँस खाया जाता था । उसके अनुसार भेड़, बकरी, हिरण, ऊँट, कबूतर, सारस, हरिपल, मछलियों का लोग माँस खाने लगे थे । माँस को भूनकर, उबालकर या तलकर खाने का रिवाज था । इस प्रकार मुसलमानों के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दुओं में माँसाहारी भोजन का रिवाज बढ़ा तथा मुसलमानों की पाकशाल में अनेक तरह का माँस खाने का उल्लेख मिलता है । लेकिन अधिकांश मुस्लिम सूफी संत शाकाहारी भोजन करते थे । वे सादा भोजन करते थे । इस काल में सिरका, चीनी, प्याज, अदरक, लहसुन आदि का प्रयोग किया जाता था ।

पेलसार्ट का मत है कि हिन्दू, माँस के स्वाद से बिल्कुल परिचित नहीं थे । ऐसी कोई चीज नहीं खाते जिसमें मुख्यत: जैनियों, ब्राह्मणों एवं वैश्यों पर यह बात लागू होती थी । बंदायूनी लिखता है कि वे लहसुन, प्याज भी नहीं खाते बर्थेना एवं नुनिज लिखते हैं कि ब्राह्मण कभी किसी जानवर को नहीं मारते । लेकिन पंजाब एवं बंगाल में वे माँस-मछली खाते हैं और सम्पूर्ण भारत में राजपूत माँस भक्षण करते हैं ।

मुगलकाल में शासक वर्ग एवं उच्च वर्ग के भोजन में समृद्धि एवं विविधता होती थी । मुगल शासकों की सुसज्जित एवं मूल्यवान पाकशाला होती थी । अबुल फसल ने अकबर की पाकशाला के बारे में लिखा है कि खाद्य सामग्री सोने-चाँदी, पत्थर एवं मिट्टी के बर्तनों में लाई जाती थी । रसोई में खाना पकाने के बाद थाली में रखने से पहले उसे चखते थे । सोने-चाँदी की थालियाँ लाल, जबकि चीनी की थालियाँ सफेद कपड़े से बाँधी जाती थी । उन पर विषय-वस्तु के बारे में लिखा जाता और सील लगाई जाती । उनकी भूमि बनाई जाती ताकि थालियाँ बदल न जाये । महल में ये थालियाँ जाती तो वहाँ का नौकर भी खाना चखता था । अकबर स्वादिष्ट खाने का शौकीन था । 24 घण्टे में वह एक बार खाना खाता था । इसके खाने का कोई खास समय नहीं था । उसके आदेश के एक घण्टे बाद थालियाँ परोस दी जाती थीं । फकीरों, यतीमों एवं निर्धनों के लिए खाना निकालने के बाद वह दूध से अपना भोजन शुरू करता था । अकबर का भोजन तीन तरह का होता था - 1. सुफियाना भोजन - जिसमें माँस नहीं होता था । 2. ऐसा भोजन जिसमें माँस, चावल होता । 3. विभिन्न तरह के मसालों के साथ माँस ।

इस प्रकार की भोजन सामग्री शाहजहाँ के काल तक जारी रही लेकिन औरंगजेब के आने के बाद मुगल रसोई की शान फीकी पड़ने लगी । लेकिन खाने का आकर्षण कम नहीं हुआ था । इस प्रकार मुगल शासकों एवं मुगल अभिजात वर्ग ने भोज्य पदार्थों एवं व्यंजनों का शाही अन्दाज बरकरार रखा । भोजन के लिए मेज सादा होती थी जिस पर कोई नेपकिन या मेजपोश नहीं होता था । मुस्लिम, धार्मिक पाबन्दी के कारण सूअर का माँस नहीं खाते थे । यद्यपि

मुसलमान अभिजात वर्ग के भोजन में माँसाहारों की प्रमुखता रहती थी और वे अपनी सम्पन्नता खाने की विविधता में प्रगट करते थे । हिन्दुओं की कुलीन जातियाँ एवं सम्पन्न वर्ग भी मुसलमानों से पीछे नहीं थी । यद्यपि उनका भोजन शाकाहारी होता लेकिन व्यंजनों में विविधता होती थी । इनमें पके हुए चावल, रोटी, घी, मक्खन, दही, छाछ, मिठाईयाँ, शक्कर, फल, सब्जियाँ आदि शामिल थे । स्वादिष्ट खीर का बंगाल, उडीसा, बिहार में काफी लोकप्रिय चावल था । चावल दाल से बनी खिचड़ी भी यह वर्ग बहुत पसन्द करता था । इसमें भारी मात्रा में घी डाला जाता था । इस्लाम घी, लौंग, बादाम, मिर्च आदि डालकर बनाई गई खिचड़ी को बंगाल में गुजराती खिचड़ी कहा जाता था ।

कवि केशवदास ने अच्छे व्यंजनों के छप्पन प्रकार बताये हैं जिनमें चार तरह के चावल, चार तरह की खीर, छः प्रकार की दालें, पाँच प्रकार की रोटियाँ, छः प्रकार की मिठाईयाँ, पाँच प्रकार के आचार एवं कई प्रकार की सब्जियाँ शामिल है । हिन्दुओं में अधिकांश लोग और विशेषकर ब्राह्मण एवं महाजन शाकाहारी थे । कुछ उच्च कुलीन वर्ग माँसाहारी भी थे । लेकिन वे ऊँट, चिड़ियों, सूअर, पालतू पशुओं आदि का माँस नहीं खाते थे । बंगाल एवं उड़ीसा में मछली एक सादा खाना था ।

हिन्दुओं के व्यंजन बनाने खाने के तरीके - यहाँ हिन्दुओं, विशेषकर उच्च वर्ग एवं ब्राह्मणों के भोजन तैयार करने के तरीकों की चर्चा करना भी आवश्यक है । खाना खाने की उनकी विशिष्ट विधि के साथ-साथ खाना पकाने का भी विधि-विधान था । भोजन की स्वच्छता एवं शुद्धता पर विशेष जोर दिया जाता था । रसोई को गोबर से लिपना या खुले में खाना बनाना हो तो, जहाँ खाना बनाया जाता था, वहाँ गोबर से लिपना जरूरी माना जाता था । अपनी स्थिति के अनुसार थाली या थाल और कटोरियों में भोजन परोसकर रखा जाता था । गोबर से लिपी-पुती जमीन पर बैठकर खाना खाया जाता था । खाने के समय केवल धोती पहनकर लोग खाना खाते थे । शरीर पर अन्य वस्त्र नही होते थे । मेजपोश, चाकू चम्मच आदि का प्रयोग नहीं करते थे । वे सीधे हाथ से खाना खाते थे । इन सब बातों का ब्राह्मण विशेष ध्यान रखते थे ।

जनसाधारण के भोजन में विविधता नहीं होती थी । सामान्य हिन्दू जनता चावल, दाल, सब्जियाँ खाकर क्षुधा शान्त करते थे । खिचड़ी का भी वे बिना अधिक मक्खन के बिना साधारण रूप में उपयोग किया जाता था । केवल धनी व्यक्ति ही दूध एवं दूध से निर्मित खाद्य वस्तुओं का उपयोग करते थे । लेकिन बंगालियों ने भोजन को सरस बनाने के लिए सुक्ता नामक शाकाहार की एक विशेष किस्म का प्रचलन शुरू किया । आम आदमी के भोजन में वहाँ नारियल पानी, मसूर की दाल, आलू, हरी सब्जियाँ, खट्टे पदार्थ, उबले चावल (भात) और थोड़ा दही शामिल थे । वहाँ कभी-कभी मछली का भी भोजन में उपयोग होता था ।

कुछ उच्च कुलीन मुस्लिमों में शराब का सेवन होता था लेकिन धार्मिक तौर पर इसके सेवन का निषेध था । मुगल शासकों ने इसके प्रयोग पर कडी पाबंदी लगाई थी एवं कठोर दंड व्यवस्था भी बनाई थी । अकबर ने शराब के दवा के रूप में उपयोग की छूट दी थी । जहाँगीर स्वयं तो इस व्यसन का शिकार था लेकिन उसने प्रजा पर पाबन्दी लगाई थी । उसने भांग, अफीम आदि मादक पदार्थों पर भी रोक लगा दी थी । लेकिन तमाम पाबन्दियों के बावजूद

औरंगजेब को छोड़कर बाकी मुगल शासक शराब के शौकीन थे । शाहजहाँ ने दक्षिण अभियान के दौरान पीना छोड़ दिया था । उच्च वर्ग की महिलाएं भी इससे अछूती नहीं रही ।

16.6.6 अंग्रेजी शासनकाल

पुराने राजाओं एवं नवाबों में खाने-पीने की मध्ययुगीन परम्पराएं जारी थी । जनसाधारण के खानपान में भी कोई अन्तर नहीं आया था । लेकिन हर शासक वर्ग की तरह ही अंग्रेज भी भारत में अपने खानपान के तौर-तरीके लेकर आये और सम्पन्न वर्ग या शासक वर्ग के राजा महाराजा इनसे अधिक प्रभावित हुए । हिन्दुओं की परम्पराओं और संस्कृति की पकड़ और जड़ें इतनी गहरी रही है कि अनेक परिवर्तनों के बावजूद उन्हें कोई भी पूर्णतया उखाड़ने में सफल नहीं हुआ । हिन्दुओं में भोजन का परम्परागत रूप से राजसी, तामसिक एवं सात्विक गुणों के आधार पर विभाजन होता रहा ।

आम आदमी गेहूँ, जौ, बाजरा, विभिन्न दालों का अपनी हैसियत के साथ उपयोग करता और साग-सब्जी के साथ सेवन करता था । अमीर या सम्पन्न लोगों के भोजन में विविधता रहती थी । विशेष अवसरों पर भोजन कराना या भोजन का वितरण करना पुण्य का काम माना जाता था । हिन्दुओं के लिए भोजन करना एवं कराना दोनों धार्मिक व पुण्य रीति रिवाज का अंग बन गये थे । जन्म, संस्कारों जैसे विवाह और यहाँ तक की मृत्यु पर भी सामुहिक भोज का चलन था । यहाँ तक कि भोजन जाति या बिरादरी में सामाजिक प्रतिष्ठा बन गया । बड़े जातिगत भोज का आयोजन करने वाले की प्रतिष्ठा बढ़ जाती थी । अंग्रेजों का भी भारत के व्यंजनों पर असर हुआ।

16.7 आधुनिक युग

भारत में किसी भी सम्प्रदाय या जाति का भोजन हो या खानपान की प्रणाली, उसमें महिलाओं की निर्णायक भूमिका रही है । महिलाओं का समस्त जीवन आमतौर से रसोई घर में व्यस्त रहता है । अतिथियों आदि की आवगत के समय तो उनकी व्यस्तता और अधिक हो जाती है । भारतीय भोजन में मध्यकाल में मध्य एशिया एवं ईरान का जो प्रभाव आया था, वह स्थायी घर बना चुका था । दिल्ली, लखनऊ, दक्षिण में हैदराबाद आदि इन प्रभावों को लेकर मुगलई खाने के केन्द्र बन चुके थे । भारत में मसालों का उपयोग प्रचुर मात्रा में होता रहा है।

आधुनिक काल में भारतीय व्यंजनों की प्राचीन परम्पराओं के आज भी दर्शन हो जाते हैं । आयुर्वेद के वात, पित्त, कप के सिद्धान्तों के अनुसार सन्तुलित भोजन के संयोजन का बना बनाया स्वास्थ्यवर्द्धक, स्वच्छतापूर्ण तौर-तरीका लम्बे समय से चला आ रहा है । लेकिन आधुनिक युग अनेक प्रकार के तेजगति से होने वाले परिवर्तनों एवं वैज्ञानिक साधनों के विकास का युग रहा है और वाणिज्य, उद्योग आदि विभिन्न गतिविधियों के बढ़ जाने से दुनियाँ के विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क बढ़ गये हैं । अनेक देशों के लोग अपने साथ अपनी सभ्यता, संस्कृति एवं खानपान, रहन-सहन के तौर-तरीके लेकर आते हैं । इसके कारण एक तो उनकी मांग के अनुसार, दूसरा देखा-देखी और तीसरा विभिन्न स्वाद चखने की प्रवृति के कारण जीवन के अनेक क्षेत्रों की तरह व्यंजनों के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन आये हैं । एक तरफ पुराने तौर-

तरीकों ने अभी भी भारतीय रसोई में अपनी जगह बना रखी है तो दूसरी और बुफे या खड़े-खडे भोजन करने या बिना स्वच्छता आदि की परवाह किये भिन्न-भिन्न स्वाद चखने के लिए सम्पन्न वर्ग में होटल एवं रेस्तरां संस्कृति का विकास हुआ है । इस प्रकार रसोई में परिवर्तन की हवा घुस गई है । दक्षिण भारतीय या अन्य प्रकार के व्यंजन उत्तर भारत में और उत्तर भारत के दक्षिण में पहुँच गये हैं । भारत के विविध प्रदेशों के व्यंजनों का स्वाद भी चारों और फैल गया है। लेकिन विभिन्न प्रदेशों के भोजन में कई प्रकार की समानता है जिसे जोड़कर हम भारतीय व्यंजन पद्धति और भारतीय व्यंजनों का नाम दे सकते हैं । लेकिन इन्टरकान्टीनेन्टल चाईनीज या इसी प्रकार की व्यंजन शैलियों के बीच भारतीय व्यंजनों की पकड़ पर्यटन के सन्दर्भ में अभी बहुत मजबूत नहीं है । यद्यपि जैसा कि बताया जा चुका है कि हर देश में आने वाले विदेशी पर्यटकों या एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने वाले पर्यटकों के लिए वहाँ के व्यंजनो के बनाने, खाने आदि के तौर-तरीकों के साथ वहाँ का स्वाद चखने की स्वाभाविक इच्छा होती है ।

लेकिन इस दिशा में भारतीय भोजन तैयार करने एवं खाना खाने के तरीकों एवं व्यंजनों से सम्बन्धित सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को जब तक पूरी तरह समझकर कुछ परिवर्तनों के साथ पर्यटन विकास के अंग के रूप में महत्त्व नहीं दिया जाता तब तक इस दिशा में बहुत आगे जाना सम्भव नहीं होगा । होटल या रेस्तरां आदि में भारतीय डिस के रूप में भले ही मिठाई, सब्जी या खाना देने की औपचारिकता निभाते रहे ।

16.8 सारांश

भोजन जीवन का अहम् हिस्सा है । भोजन में स्वास्थ्यवर्द्धक तत्त्व भी हों, सुगंध भी, स्वाद भी और स्वच्छता भी, यह अनिवार्य बाते हैं । खाने के स्थान, वहाँ के वातावरण, तौर-तरीकों का भी महत्त्व है । शान्त चित्त होकर, मौन के बीच बिना बोले, प्रसाद समझकर उसे ग्रहण करने से पूर्ण सन्तुष्टि मिलती है । केवल स्वाद के लिए खाना ठीक नहीं । शरीर, मन और आत्मा की खुराक है - भोजन । लेकिन यदि इसे शरीर और जीभ की जरूरत तक सीमित कर दिया जाये तो भोजन विज्ञान या पाकशास्त्र के प्रति यह अज्ञानता का परिचायक होगा ।

भारत में भौगोलिक स्थितियों, आर्थिक अवस्थाओं, धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों आदि के आधार पर व्यंजन तैयार करने, खाने आदि की परम्पराएं शुरू हुई है और पर्यटन के सन्दर्भ में भोजन को उपयुक्त स्थान देने से पूर्व भोजन एवं संस्कृति के वैज्ञानिक एवं अन्य पहलुओं की तह में जाना आवश्यक है ।

भोजन या पेय-पदार्थों को लेकर अनेक भ्रान्त धारणाएं भी प्रचलित हैं । उन्हें भी समझना चाहिए । निरामिश भोजन के बारे में लोग कहते है कि शरीर को पुष्ट बनाने में अण्डों या माँस से ज्यादा ताकत मिलती है लेकिन प्राणी जगत में देखें तो शुद्धता के साथ वनस्पतियों या प्रकृति पर आधारित वेजीटेरियन खाद्य पदार्थों का इस्तेमाल करने वाला प्राणी गुरिल्ला सबसे अधिक ताकतवर होता है ।

बहरहाल, दुनिया में वन्यजीवों की घटती आबादी और अनेक प्रकार के पौष्टिक एवं स्वादिष्ट व्यंजनों की उपलब्धता के युग में माँसाहार उचित नहीं लगता । स्वाद के लिए जीवों के प्रति हिंसा नहीं करने का महावीर एवं बुद्ध ने प्रचार किया और यह बताया कि हर युग की

अपनी-अपनी परिस्थिति होती है । आज के युग में हिंसा को स्थान नहीं है । अहिंसा ही परमोधर्म है । इसलिए धर्म एवं आर्थिक दृष्टिकोण से भी देखें तो तामसिक भोजन त्याज्य है ।

जीवों को मारकर खाने को प्रकृतिप्रदत्त चेष्टा नहीं कहा जा सकता । जीव रचना में शाकाहारी और माँसाहारी दोनों ही प्रकार के जीव हैं । कुत्ता कभी घास नहीं खाता और गाय को हरा घास पसन्द है । दरअसल मनुष्य को प्रकृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन आदि को ध्यान में रखना चाहिए । खामोश और निरीह वन्य प्राणियों पर गोली चलाना और उनके माँस से अपनी जीभ का स्वाद पूरा करना, क्रूर कृत्य माना जाना चाहिए ।

भारतीय खानपान के सन्दर्भ मे राजस्थान का उदाहरण दिया जा सकता है क्योंकि आमधारणा यह रहती है कि यह एक शुष्क प्रदेश है जहाँ हरियाली का अभाव है और यहाँ का भोजन भी इसलिए शुष्क होगा। लेकिन आप अध्ययन करें तो पायेंगे कि यहाँ के लोग खानपान के शौकिन एवं मनुहार के कच्चे हैं एवं अतिथि देवो भव: यहाँ की परम्परा रही है । यह सही है कि राजस्थान का अधिकांश भूभाग एक फसल है तथा कम वर्षा के कारण सब्जियों की प्रचुर मात्रा में उपज की दृष्टि से अन्य प्रदेशों से पिछड़ा हुआ है । लेकिन जो कुछ भी यहाँ उपलब्ध है, उसे विविध प्रकार से स्वादिष्ट रूपों में प्रस्तुत करने के प्रयास किया जाता है । यहाँ पशुपालन, खेती मुख्य व्यवसाय है । अत: दुग्ध आधारित विविध मिठाईयों का जायका कुछ और ही है । बंगाल के रसगुल्लों के साथ राजस्थान के रसगुल्लों का स्वाद भी कम नहीं है । त्यौहारों पर तो विभिन्न व्यंजनों से वातावरण महक उठता है ।

राजस्थान प्रदेश अपने विशेष व्यंजनों के कारण भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में अपनी पहचान रखता है । आजकल पैकिंग का व्यवसाय उन्नत होने के कारण यहाँ के दुग्ध उत्पाद पूरे देश में फैल गये हैं । बीकानेर की नमकीन एवं रसगुल्लों को कौन नहीं जानता । बीकानेर, जोधपुर, सीकर आदि अर्थात् मारवाड़, शेखावटी की मिठाईयों के क्षेत्र में विशेष पहचान है । बंगाली मिठाईयों की धूम भी पूरे देश में मंची हुई है । रसगुल्ला भी वहीं से आया और राजस्थान में प्रसिद्ध हो गया । बीकानेर के भुजिया, पापड़, वड़ी ने भी अपनी पहचान कायम की है । जयपुर के घेवर को कौन छोड़ेगा । गणगौर एवं तीज पर तो घेवर की खुशबू चारों और छा जाती है । हाड़ौती का कत्त-बाफला, राजस्थान का दाल-बाटी-चूरमा, अजमेर की जलेबी, अलवर का मावा, कोटा के कचोरी-समोसे, बागड़ की मावा-बाटी, जोधपुर के मावे के लड्डू, प्याज, मिर्च की कचौरी, मीठी कचौरी आदि अनेक व्यंजनों की राजस्थान में तो विशेष पहचान है ही साथ ही अनेक व्यंजनों की देशभर में मांग है । अनेक भारतीय व्यंजन आज भी विदेशों में बसे भारतीयों के मन में बसे हुए हैं और अनेक भारतीय रेस्तरां, भारतीय व्यंजनों से भारतीयों एवं विदेशियों को यहाँ की व्यंजन परम्परा का परिचय देने में संलग्न है । आहार एवं व्यंजनों में भौगोलिक एवं सामाजिक कारणों से भिन्नताएं पाई जाती हैं । परिवहन के साधनों ने भी फलों, सब्जियों एवं खाद्य पदार्थों के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । राजस्थान के व्यंजनों में गट्टे की सब्जी, सागरी का साग, बीकानेर के भुजिया, जयपुर के घेवर, जोधपुर के मावे के लड्डू आदि कई व्यंजन तो विस्तार से छाये हुए हैं ।

राजस्थान प्रदेश के निवासियों द्वारा लिये सामान्य आहार को हम तीन वर्गों में बाँटकर सहजता से समझ सकते हैं । यद्यपि यह वर्गीकरण आज के जमाने में बढ़ते हुए मध्यम वर्ग

और मध्यम वर्ग के ग्रामीणों के भोजन की ओर बढ़ते रूझान के कारण काफी कमजोर सा है फिर भी परम्परागत यप से समझने के लिए ऐसा प्रयास किया गया हे । शहर एवं कस्बे में रहने वाले लोग परम्परागत ढंग से गेहूँ, बाजरा, मक्का, जौ, चावल, दाल, सब्जियाँ, दूध, दही, छाछ, हलवा, खोया की मिठाईयाँ, बेसन की मिठाईयाँ व अन्य उत्पाद, जलेबी, लड्डू, खाजा, पापड़, मठरी एवं अचारों में केर, सांगरी व नींबू तथा आम के आचार का प्रयोग करते रहे हैं । लहसुन, प्याज व मिर्च का प्रयोग भी अधिकाधिक रहा है । शाम के खाने में बाजरा व मोठ की खिचड़ी का भी सेवन रहा है । बेसन के गट्टों, सांगरी, एवं ग्वार फली की सब्जी तथा कड़ी, लापसी स्थानीय विशेषताओं के आकर्षण हैं राजस्थान में दक्षिणी-पूर्वी क्षेत्र के कुछ भागों को छोड़कर चावल का प्रयोग कम रहा है । अब दिन-प्रतिदिन चावल का सेवन बढ़ता जा रहा है । आजकल गेहूँ का प्रयोग भी अत्यधिक हो गया बल्कि खाने की स्थायी वस्तु हो गया हे और लोग बाजरी व जौ का प्रयोग कम से कम या स्वाद के आकर्षण के लिए करने लगे हैं । दूध, दही व घी का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है व सब्जियों में मिर्च का मेल अत्यधिक है । संभवत: मिर्च एवं घी का प्रयोग एक अच्छा स्वास्थ्यवर्द्धक मिलान है । ग्रामीण क्षेत्र में बाजरा, जौ या जौ-चना (बेजड़), गेहूँ चना (गोजरा) के आटे की रोटियाँ तथा दही, दूध के साथ मौसमी सब्जियों से लोग भोजन करते रहे हैं । प्याज बाजरा व जौ की रोटी ग्रामीण गरीबों का खाना हमेशा बना रहा है । आजकल ग्रामीण संभाग में भी गेहूँ एवं चावल का प्रयोग विशेषकर समृद्ध लोगों में बढ़ता जा रहा है । छाछ-राबड़ी का सेवन तो आम आदत है । मरू प्रदेश में राबड़ी प्रयोग अधिक है जो दही से निर्मित है । मरू प्रदेश में एक समय तो यह कहावत थी कि पानी के स्थान पर दूध या घी का पान कर लो । भोजन में घी का अधिक उपयोग शक्ति बढ़ाने के हिसाब से भी देखा जाता रहा हे । मौसमी सब्जियों का तात्पर्य क्षेत्र विशेष की सब्जियों से है । हाड़ौती संभाग में तो सब्जियों की कमी नहीं रही लेकिन मरू प्रदेश में फली काकड़े की सब्जी मौसमी सब्जी के रूप में प्रयोग में लायी जाती रही । ग्रामीण अंचल में आटे के हलवे का भी प्रचलन खूब रहा है । राजस्थान के फलों में खरबूजा, तरबूज, मतीरा, गूंटीयां, बेर का स्थानीय स्तर पर सेवन खूब रहा है बल्कि स्थानीय फलों की विशेषता के कारण पर्वो पर भी इनको भेंट चढ़ाया जाता रहा है।

जनजाति क्षेत्र के लोग मक्का, बाजरा, मालिया के साथ-साथ जंगली जानवरों तथा पक्षियों के मास का सेवन भी करते रहे हैं । जंगली फल व फूल भी इनके भोजन का भाग रहे हैं । राजस्थान में अकाल की विभीषिका बहुधा रही है और उस अवस्था में जनजाति व ग्रामीण परिवेश के लोग सांगरी, बेर के पत्तों पर भी जीवन का निर्वाह करते रहे हैं । राजस्थान पशुओं की घास के लिए भी बहुत विख्यात रहा है । वहाँ हल्की सी बरसात में भी अच्छी घास हो जाती है और वह पशुओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है । इस प्रकार जैसा कि कहा गया है कि आदमी के व्यक्तित्व की पहचान उसके द्वारा किये जा रहे भोजन के प्रकार से किया जा सकता, उसी प्रकार व्यंजनों को तैयार किये जाने, खाने और खाने के तौर-तरीके, परम्पराएं भी किसी भी समाज के आचार-व्यवहार, स्तर, सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं ।

16.9 उपयोगी साहित्य

1. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इण्डियन प्यूपिल दी वैदिक एज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई 1971
2. सोसायटी इन एनशियंट इन्डिया, एस.सी. बनर्जी, 1943
3. प्राचीनकाल का सामाजिक इतिहास जे.एस. मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974
4. सम कल्चर आस्पेक्ट्स ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, एस.एस. माथुर, 1972
5. सोशल कल्चरल एण्ड इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इन्डिया, एस.सी. चौधरी, 1978

16.10 कुछ अभ्यास प्रश्न

1. सिन्धु सभ्यता के काल में भारतीयों का भोजन कैसा था ?
2. मुगलों के आगमन ने भारतीय भोजन पर क्या प्रभाव डाले?
3. भारत में अमीरों एवं गरीबों के भोजन के अन्तर को स्पष्ट कीजिए?
4. राजस्थान के सन्दर्भ के साथ भारतीय व्यंजनों की प्राचीन परम्परा पर प्रकाश डालिए?
5. आधुनिक व्यंजनों के सन्दर्भ में विभिन्न देशों के प्रभाव की चर्चा कीजिए?

खण्ड- 5 : भारतीय समुदाय

इकाई - 17	वैदिक धार्मिक समुदाय
इकाई - 18	भारत की धार्मिक समुदाय
इकाई - 19	भारत के उत्सव
इकाई - 20	पर्यटन के विविध रूप केस स्टडीज

इकाई - 17 : वैदिक धार्मिक समुदाय

रूपरेखा:

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 वैदिक धर्म, सभ्यता और संस्कृति
17.2.1 ऋग्वैदिक
17.2.2 उत्तर वैदिक
17.3 ऋग्वैदिक सभ्यता का विकास।
17.3.1 राजनैतिक जीवन
17.3.2 सामाजिक जीवन
17.3.3 आर्थिक जीवन
17.3.4 कला-कौशल और विज्ञान
17.3.5 धार्मिक जीवन
17.4 उत्तर वैदिक काल का विकास
17.4.1 प्रादेशिक विस्तार
17.4.2 राजनैतिक व्यवस्था
17.4.3 सामाजिक संरचना
17.4.4 शिक्षा और साहित्य
17.4.5 आर्थिक जीवन
17.4.6 धार्मिक जीवन
17.5 सारांश
17.6 शब्दावली
17.7 अभ्यास प्रश्न
17.8 उपयोगी साहित्य

17.0 उद्देश्य

जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय सभ्यता अति प्राचीन है और यह संसार की सर्वप्रथम उन्नत सभ्यता और संस्कृतियों में मानी जाती हैं । इसलिए इस इकाई में यह प्रयास किया गया है कि इसका अध्ययन करने के बाद आप यह बताने में सक्षम हो सकें कि किस प्रकार वैदिक काल के धार्मिक समाज में विभिन्न समुदायों का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन था जो भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा का एक प्रमाण है । आप यह भी जान सकेंगे कि किस प्रकार वेद इस संस्कृति के स्रोत थे ।

इस इकाई के अध्ययन से आप यह स्पष्ट कर सकेंगे कि किस प्रकार वैदिक काल भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों की स्थापना का युग था । इन आदर्शों एवं जीवनशैली की

बुनियाद इतनी दृढ़ थी कि आज के सन्दर्भों में जब आप इस पर प्रकाश डालेंगे तो वैदिक संस्कृति के कई तत्त्व इसमें उपस्थित मिलेंगे । वैदिक युग के बाद भारत में कई परिवर्तन हुए हैं और एतिहासिक एवं राजनैतिक उलटफेरों से सामाजिक जीवन में बदलाव आये हैं लेकिन वैदिक संस्कृति में हिन्दुओं के आचार-विचार, धार्मिक कार्यों, रहन-सहन आदि कई ऐसे पक्ष हैं जिनसे भारतीय संस्कृति का ताना-बाना बुना गया है।

वेद का अर्थ है - ज्ञान या नोलेज । इस प्रकार वेदों की रचना का आधार ज्ञान है और इस ज्ञान की ठोस नींव पर भारतीय समाज और समुदायों की जीवनशैली की संरचना की गई है जो सदियों के उतार-चढ़ावों को पार करते हुए आज भी अपनी पकड़ इस समाज पर बनाये हुए हैं ।

17.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के जीवन्त संस्कृति के रूप में बने रहने का एक कारण इसकी निरन्तर सत्य की खोज करते रहने, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा मानव-कल्याण एवं जीवमात्र के कल्याण की परिकल्पना एवं ध्येय हैं । आज भी इस संस्कृति का अध्ययन करने वालों की यह खोज रहती है कि आखिर इसमें क्या है जो इसके अस्तित्व को सदियों से बनाये रखने में सक्षम है । भारतीय संस्कृति की समकालीन अनेक पुरानी संस्कृतियाँ जैसे मिश्र, सुमेर, बेबीलोन, यूनान और रोम की संस्कृतियों का लोप हो गया लेकिन इस संस्कृति एवं सभ्यता ने गम्भीर राजनैतिक उथल-पुथल एवं चुनौतियों का सामना किया फिर भी यह अटल रही ।

यद्यपि आज की चकाचौंध और भौतिक वैभव से पूर्ण दुनियाँ में स्वयं भारतीय अपनी संस्कृति के गौरव से चेतन नहीं होते इसलिए इस इकाई के माध्यम से भारतीय संस्कृति के उन प्राचीन आदर्शों एवं विशेषताओं को उजागर करने की चेष्टा की गई है ताकि इस अबाध प्रवाह से अनुप्राणित संस्कृति की रोशनी में भारतीय अपने विगत को भली-भाँति पढ़ सकें । इससे राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक एकता की अनुभूति को विकसित करने में भी सहायता मिल सकती है।

भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को समझने का सबसे बडा स्रोत है - वेद । लौकिक एवं सांसारिक वस्तुओं को देखने के लिए जिस प्रकार आँखों की जरूरत होती है ठीक वैसे ही भारतीय संस्कृति में समाहित शाश्वत तथ्यों या अलौकिक तथ्यों को देखने और समझने के लिए वेदों की आवश्यकता होती है ।

वेदों की रचना के बारे में विद्वानों के मत अलग-अलग हैं । मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेद ई.पू. 1000 पहले रचा गया । जेकोबी एवं बाल गंगाधर तिलक इन्हें ई.पू. 4000 वर्ष, विण्टरानेज ई.पू. 3000 पूर्व का मानते हैं । निष्कर्ष निकाला जाये तो वैदिक साहित्य की रचना का काल 1500 ई.पू. से 200 ई.पू. के मध्य कहा जा सकता है ।

17.2 वैदिक धर्म, सभ्यता, संस्कृति

भारतीय संस्कृति में वेदों का महत्त्वपूर्ण स्थान हे । इनकी महानता एवं प्राचीनता के कारण इन्हें मानव-रचित नहीं मानकर ईश्वर प्रदत्त माना जाता है । वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना । अत: वेद का शाब्दिक अर्थ है - ज्ञान । वेदों की संख्या चार है -

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद । इनमें ऋग्वेद संहिता को सबसे पुराना माना जाता है । इसके 10 मंडल, 1028 सूक्त या श्लोक हैं । यह आर्य ऋषियों की आध्यात्मिक या ईश्वर परक अनुभूतियों का संकलन है । इनके द्वारा देवी-देवताओं की स्तुति की जाती थी । इनसे आर्यों के धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन एवं स्थितियों की जानकारी मिलती है । हर सूक्त के साथ किसी ऋषि या देवता का नाम सम्बद्ध है । इससे अनुमान लगाया जाता है कि जिस ऋषि का नाम किसी सूक्त से सम्बद्ध है, शायद वही उसका रचयिता रहा होगा । इन ऋषियों में विश्वामित्र, सामदेव, अत्रि, भारद्वाज एवं वशिष्ठ के नाम प्रमुख हैं । मंत्रों के रचियताओं में लोपा मुद्रा, घोषा, शची, गौतमी के नाम भी शामिल हैं । क्योंकि ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है । अत: इस काल को ऋग्वैदिक काल या पूर्व वैदिक काल कहा जाता है । बाकी तीन वेदों की रचना के काल को उत्तर वैदिक काल कहा जाता है ।

17.3 ऋग्वैदिक सभ्यता का विकास

ऋग्वेद में 1028 सूक्तों की संहिता है जो 10 मण्डलों में विभक्त है । ऋग्वेद से आर्यों के तत्कालिन धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की जानकारी मिलती है।

17.3.1 राजनैतिक जीवन

ऋग्वैद से ज्ञात होता है कि आर्यों की मूल इकाई कुल या परिवार था । इससे बड़ी इकाई गौत्र था । गौत्र से बड़ा जन, जन से विश और सभी विशों से विकसित राष्ट्र था । राष्ट्र का स्वरूप उस समय प्रधानत: जातीय था । डा. राय चौधरी के अनुसार एक जन में कई विश होते थे । वेदों में कबीला नाम के साथ जन जुड़ा हुआ मिलता है जैसे जरूरजन, भारतजन आदि । विभिन्न जनों या कबीलों में लोग विभक्त थे और हर जन का एक नेता था, जो राजा होता था जिसका पद प्राय: वंशानुगत होता था । ऋग्वैद से राजाओं की वंशावलियाँ मिलती हैं । राजा की मृत्यु के बाद प्राय: उसका पुत्र ही उत्तराधिकारी बनता था । लेकिन उसे तभी वैध माना जाता था जबकि जनता उसका अनुमोदन कर देती थी । राजा, जनता की रक्षा का वचन देता था । जनता द्वारा राजा को पदच्युत भी किया जा सकता था । राजा के निर्वाचित किये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं । राजा का निर्वाचन करने में ब्राह्मण तथा अभिजात वर्ग के लोग भाग लेते थे । निर्वाचन के समय राजा को जनहित में कार्य करने की शपथ भी दिलाई जाती थी ।

ऋग्वैदिक काल में छोटे राज्यों का बड़े राज्यों में विलय होना आरम्भ हो गया था । ऋग्वैदिक में "विश्वस्य भवनस्य राजा" अर्थात् सम्पूर्ण भुवन का राजा आदि उपाधियों का वर्णन भी मिलता है । चक्रवती राजा स्थापित हो गये थे लेकिन विशेष बात यह थी कि राजा निरंकुश नहीं होते थे । इस प्रकार ऋग्वैदिक के समय की राजनैतिक अवस्था को देखें तो ज्ञात होगा कि भारत में राजनैतिक जीवन के विकास की तह में जनतान्त्रित तत्वों का समावेश था । राजा के पास शासन के अधिकार तो शक्तिशाली थे लेकिन वे जनतान्त्रिक थे और प्रजा का हित सर्वोपरि था । जनता द्वारा चुना जाना और उसके द्वारा प्रशासकीय मामलों में राजनैतिक संस्थाओं का सहयोग लेना आदि जनतान्त्रिक तौर-तरीके थे ।

राज पद महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशाली समझा जाता था । राजा, भव्य राजप्रसाद में रहता था, उसकी सेवा में कई अधिकारी और सेवक होते थे । राज्याधिकारियों में प्रमुख पुरोहित होता था । वह राजा को राजकाज के मामलों में परामर्श देता था । राजा के प्रमुख, राजा की रक्षा करने एवं उसकी विजय के लिए प्रार्थना करने के लिए युद्ध भूमि में भी उसके साथ रहते थे । सेनापति के कार्यों की प्रकृति सैनिक थी । इन अधिकारियों के अलावा ऋग्वैद में ग्रामीण, सूत, रथकार आदि कर्मचारियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है । ग्रामीण का अर्थ गाँव के मुखिया से होता था जो राजा एवं गाँव के लोगों के बीच कड़ी का काम करता था ।

मुखिया का कार्य गाँव में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना, उनके सुख-दुख का ध्यान रखना आदि होता था और वह इन सबसे राजा को अवगत कराता था । पुरूष अर्थात् दुर्गपति के कार्य सैनिक प्रकृति के थे । गुप्तचर तथा दूतों के कार्य राजनैतिक थे । संधि वगैरह के सन्देश दूत ही दूसरे राज्य में ले जाते थे । सभी पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों को नियुक्त करने या पदच्युत करने का अधिकार राजा के पास होता था । राजा प्रमुख पदाधिकारी होता था जो प्रशासनिक, सैनिक एवं न्याय, में तीन प्रकार के कार्य करता था ।

शान्तिकाल में सेना का संगठन करता था और युद्ध के समय उसका नेतृत्व करता था । सभा में बैठकर न्यायाधीश की भूमिका भी वह निभाता था । उस काल में चोरी, डकैती, जानवर चुराने पर न्याय प्रणाली में दण्ड प्रक्रिया के अन्तर्गत गर्म कुल्हाड़ी या जल या अग्नि के माध्यम से दंड दिया जाता था । प्राय: शारीरिक दण्ड ही दिये जाते थे । राजा अदण्डनीय होता था । ऋण न चुकाने पर दासता स्वीकार करनी होती थी ।

ऋग्वैद काल से ही राजनैतिक व्यवस्था को कितना सुद्दढ़ आधार दिया जाता था यह इस बात से पता चलता है कि राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकने और उस पर अंकुश लगाने के लिए सभा और समिति जैसी दो संस्थाएं होती थीं जिन्हें प्रजापति की 'दुहिताएं' कहा जाता था । सभा के सदस्य संचय, सभासद, सभासिन आदि नामों से सम्बोधित किये जाते थे । सभा का अध्यक्ष सभापति कहलाता था । यद्यपि लुडविंग के अनुसार सभा का अर्थ उच्च सदन से था और समिति निम्न सदन । लेकिन इस बारे में सभा एवं समिति के कार्यों एवं कर्त्तव्यों के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और वैदिक साहित्य में इस बारे में स्पष्ट प्रमाण भी नहीं मिलते।

ऐसा प्रतीत होता है कि सभा के सदस्यों में जनता के प्रतिनिधि एवं समाज के अनुभवी एवं प्रतिष्ठित लोग शामिल होते थे और समिति समस्त विश एवं प्रजा की संस्था थी । इसमें सभी राजनैतिक एवं सामाजिक प्रश्नों पर विचार होता था । राजा का चुनाव इसी में से होता था । राजा भी इसके अधिवेशनों में जाता था । समिति के अनुशासन एवं विनय का नियम था । वेदों में समिति में सामंजस्य के लिए प्रार्थना है । इसमें स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं लेकिन ज्यों-ज्यों इसका राजनैतिक वातावरण विकसित हुआ ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ इसमें विमुख होती गई । सभा समिति से छोटी होती थी । जिनमें राजा के विशों में से चुने हुए सलाहकार होते थे । जिनकी सहायता से राजा अपने दैनिक कार्यों और अभियोगों का निर्णय करता था । राजा की बढ़ती शक्ति के साथ समिति के अधिकार संकुचित होते गये । महाभारत काल में तो यह मात्र परामर्श दात्री संस्था के रूप में ही रह गई ।

डी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक "हिन्दू राजतंत्र" में विदथ नामक संस्था का उल्लेख किया है । उनके अनुसार यह सभा समिति से प्राचीन थी तथा धार्मिक व्यवस्था करती थी । कुछ लोग इसे समिति की "कमेटी" मानते थे ।

ऋग्वैदिक कालीन युद्ध प्रणाली विकसित एवं सुसंगठित थी । युद्ध में राजा सेना का नेतृत्व करता था तथा उसकी सहायता के लिए सेनापति होता था । सेनापति राजा के परामर्श से सैन्य संगठन करता, युद्ध योजनाएं बनाता एवं सैनिकों को कर्तव्य की बलि देवी पर मिटने के लिए प्रेरित करता था । राजा व उच्च उदाधिकारी रथों पर तथा साधारण सैनिक पैदल युद्ध करते थे । अनुमान है कि सेना में अश्वरोही भी होते थे ।

आर्यों की रक्षा व्यवस्था में दुर्गों का विशेष महत्त्व था । दुर्ग प्राय: पाषाण या धातु निर्मित होते थे । जिनके चारों ओर प्राय: लकड़ी की चारदीवारी अथवा खाइयाँ होती थीं । शस्त्रों में बरछी, भाला, फरसा, तलवार आदि थे । लेकिन प्रमुखता धनुष बाण की ही थी । मुख्य योद्धा कवच व लोहे का टाप पहनते थे । ऋग्वेद में वर्णित "पुर चरिष्णु" से विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि शायद वह दुर्गों को गिराने का एक विशेष यंत्र था । सैनिकों का जोश बढ़ाने के लिए रण-व्रात का भी उपयोग होता था । ऋग्वैद में वर्शित शर्थ, व्रात और गण आदि शब्दों से विद्वानों का अनुमान है कि सेना में इकाईयों का अस्तित्व रहा होगा और उपर्युक्त नाम इन्हीं इकाईयों के रहे होंगे ।

ऋग्वैदिक काल में आर्यों के शासन में राजतंत्रात्मक और गणतांत्रिक दोनों ही प्रणालियाँ प्रचलित थी । गणतांत्रिक प्रणाली में राष्ट्र का प्रमुख वंशानुगत राजा न होकर शासन प्रमुख का चुनाव किया जाता था । यादवों की शासन प्रणाली का यही रूप प्रचलित था । महाभारत से पूर्व अनेक यादव गणतंत्र राज्य स्थापित हो चुके थे । जिनमें अन्धक, वृष्णि, भोजमुकूर आदि प्रसिद्ध थे । इनमें अनधक वृष्णि का एक संघ था जिसके संघ प्रमुख का चुनाव होता था । भगवान श्री कृष्ण ऐसे ही संघ के प्रमुख थे । ऋग्वेद से गणराज्य प्रमुख को गणपति कहा गया है ।

17.3.2 सामाजिक जीवन

जीवन की सादगी और विचारों की श्रेष्ठता आर्यों के सामाजिक जीवन का सार था । आर्य परिश्रमों और धर्मपरायण थे । शुद्ध, सादा और सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने मे उनका विश्वास था । अतिथि सत्कार की भावना उनमें प्रबल थी ।

ऋग्वैदिक काल में आर्यों ने घुमक्कड़ प्रवृति को त्याग दिया था और छोटे-छोटे गाँव बसाकर रहने लगे । उनमें घर लकड़ी, मिट्टी और फूस के बने होते थे किन्तु वे बड़े स्वच्छ, खुले और हवादार थे । आर्य प्राय: फल-फूलों से घिरी ऊँची भूमि पर और नदियों के समीप अपने घर बनाते थे । साथ ही वे घर के निकट इतनी भूमि खाली छोड़ देते थे कि जिसमें एक परिवार के लिए पर्याप्त अन्न, चारे आदि की व्यवस्था हो सके ।

ऋग्वैदिक कालीन परिवार पितृ प्रधान होते थे । आर्य परिवार में माता-पिता, पति-पत्नि, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि रहते थे । वयोवृद्ध (पिता) ही परिवार का स्वामी, संरक्षक और यज्ञादि कराने के लिए उत्तरदायी होता था । परिवार के इस मुखिया को "कुलपा" कहा जाता था । पिता

की मृत्यु के बाद ही पुत्र उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था । परिवार में अनुशासन का महत्त्व था और परिवार का प्रधान पारिवारिक सदस्यों को कठोर से कठोर दण्ड दे सकता था ।

ऋग्वैदिक काल के विभिन्न संस्कारो में विवाह का सर्वाधिक महत्त्व था । विवाह को पवित्र तथा स्थायी सम्बन्ध अच्छे नहीं समझे जाते थे । भाई-बहिन का विवाह राज्य की दृष्टि में दण्डनीय था । बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी । कन्या का विवाह प्राय: 16 से 20 वर्ष की आयु के मध्य होता था । सन्तानहीन विधवाओं का पुनर्विवाह संभव था । यह प्राय: देवर से हो जाया करते थे । विवाह के समय वर-वधू वयस्क होते थे तथा विवाह के निर्धारण और निर्वाचन में उनकी स्वीकृति आवश्यक समझी जाती थी । एक पत्नि प्रथा प्रचलित थी । किन्तु, धनी व उच्च वर्ग में कभी-कभी बहुपत्नी भी होती थी । ऋग्वेद में अनुलोम और प्रतिलोम दोनों विवाहों के उदाहरण प्राप्त हैं । आजीवन कुँवारी रहने के भी प्रमाण ऋग्वेद में मिलते हैं । किन्तु, इनकी संख्या कम थी । ऐसी स्त्रियों को "अमाजूर" कहा जाता था तथा वे अपने पिता के घर मे रहती थीं ।

पुरूष प्रधान समाज होने पर भी ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को सम्मान व आदर प्राप्त था । वे पति की अर्द्धांगिनी तथा गृह स्वामिनी मानी जाती थी । उसके धार्मिक तथा सामाजिक अधिकार पति के समान थे । कन्या, स्त्री तथा माता के रूप में नारी की प्रतिष्ठा थी । पितृ सत्तात्मक परिवार होने के कारण आर्थिक अधिकार पुरूष के समान नहीं थे । किन्तु, गृह स्वामिनी के रूप में स्त्री पति की सम्पत्ति का पूरा उपयोग करती थी । स्त्रियाँ सामाजिक उत्सवों में भाग लेती थी । गृह कार्यों के अतिरिक्त कन्याओं को वेदों एवं ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी । कन्या का शिक्षा क्षेत्र में उतना ही महत्व था जितना पुत्र का । मजूमदार, राय चौधरी व दत्त के शब्दों में - कानून की वृद्धि में स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं थी । भरण पोषण और सहायता के लिए उन्हें आजीवन पुरूष सम्बन्धियों पर निर्भर रहना पड़ता था ।

ऋग्वैदिक काल में विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानों की प्राप्ति विशेषकर पुत्र जन्म था । ऐसी सामाजिक धारणा थी कि यदि कोई व्यक्ति बिना पुत्र के मर जाए तो उसकी सद्गति नहीं होती थी । लेकिन पुत्री घृणा की पात्र नहीं थी । आगे चलकर पुत्री जन्म चिन्ताजनक होने लगा था । यज्ञ, तर्पण आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए पुत्र का विशेष महत्व था । सम्भवत: इसी कारण सथवा स्त्रियों को पुत्र प्राप्ति के निमित पर पुरूष के साथ यौन सम्बन्ध की स्थापना की अनुमति दी गई जिसको नियोग कहते थे ।

गेहूँ और जौ मुख्य खाद्य पदार्थ थे । दूध, दही, मक्खन आदि अनेक शाक व फल भी प्रयोग में लाए जाते थे । विशेष अवसरों पर आमिष भोज किया जाता था । परन्तु, दूध देने वाली गाय को अवहव समझते थे । पेय पदार्थों में सोम व सुरा का प्रयोग होता था । सुरापान को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था । सोमरस भी एक प्रकार की मदिरा थी । किन्तु, उसका स्थान पवित्र पेयों में था । अश्वमेघ यड्ञ में घोड़े का माँस खाया जाता था । जिसके विषय में यह धारणा थी कि इसके खाने से लोगों में स्वरता आती है ।

वेशभूषा में प्राय: दो वस्त्र पहने जाते थे । अधिवास तथा नीवीं । पगड़ी भी पहनी जाती थी । वस्त्र विभिन्न रंगों के होते थे जो सूत, मृत चर्म एवं ऊन से बनते थे । बहुधा वस्त्रों पर

स्वर्ण के तारों से कशीदा काढ़ा जाता था । आभूषण नर और नारी दोनों ही पहनते थे । कान की बाली, गुलबन्ध, नुपूर, भुवबन्ध आदि का प्रचलन था । स्त्रियाँ प्राय: जूड़ा बाँधती थीं और पुरूष दाढ़ी मूँछ रखते थे । स्वर्णाभूषणों तथा पुप्पाहारों का प्रयोग उत्सवों पर होता था । ब्रहमचारी मृग छाल पहनते थे । पुरूष लम्बे बाल रखते थे और कंघी करते थे । स्त्रियाँ चोटी भी करती थीं । सुगन्धित तेलों का प्रचलन था । आर्य स्थिर जीवन व्यतीत करने लगे थे । यद्यपि पशुपालन अब भी मुख्य व्यवसाय था । खेतों के समीप लोग घास फूस की झोपड़ियाँ बनाकर रहने लगे थे । पक्के मकानों के प्रमाण भी मिले हैं । ऋग्वेद में एक हजार स्तम्भों वाले मकानों का उल्लेख मिलता है । लोगों के आचार-विचार बड़े पवित्र थे । अपहरण, लूट तथा अन्य अपराधों की संख्या नगण्य थी । क्योंकि लोग इस युग में संतोषप्रद जीवन व्यतीत करते थे । अतिथि सत्कार सर्वमान्य प्रथा थी ।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर “पंचजना” तथा “पंचकृष्टय” का उल्लेख हुआ है जो आर्यो की पाँच प्रमुख जातियों का द्योतक है । ये जातियाँ थी - अनु, दुहम, यदु, तुर्बस और पुरू । इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, श्रृंज्य आदि नामों का भी वर्णन वेदों में मिलता है । सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को समान तथा विश: का अंग समझा जाता था । जाति के आधार पर समाज में पहले दो ही वर्ण थे - आर्य एवं आर्येत्तर ।

ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन विकसित एवं जटिलतर होता गया । त्यों-त्यों विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति होती गई । वर्ग पैतृक न होकर कर्म के आधार पर थे । सामाजिक वर्गों में मेल-जोल की स्थिति थी । समय के साथ विभिन्न कार्यों का अनुसरण करने वाले चार वर्ग प्रमुख हो गए । वे वर्ग थे- ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र । आगे चलकर इन वर्गों का चतुवर्ण के नाम से पुकारा गया । ऋग्वेद में इनके लिए वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । ऋग्वैदिक काल में वर्ण का आशय रंग से था । इस दृष्टि से दो ही वर्ण थे - गोरे वर्ण के आर्य तथा काले रंग के अनार्य । डी. विमल चन्द पाण्डेय के अनुसार ऋग्वैदिक समाज में कार्य के आधार पर 4 वर्गों का उदय और नामकरण (ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र) अवश्य मिलता है । परन्तु इन वर्गों को वर्गों का नाम देना बाद के व्यवस्थाकरों का काम है । ऋग्वेद तो केवल आर्य वर्ण और दास वर्ण को ही जानता है । स्पष्ट है कि कालान्तर में वर्ण का अर्थ (1) रंगमूलक न होकर (2) कर्ममूलक और फिर (3) जन्म मूलक हो गया ।

17.3.3 आर्थिक जीवन

ऋग्वैदिक कालीन आर्यों का आर्थिक जीवन सुखमय था । आर्थिक जीवन का केन्द्र अभी तक शोधन था । पशु पालन विकसित था । गाय, बैल, घोड़े, कुत्ते, भेड़, बकरियाँ, गधे और खच्चर विशेष रूप से पाले जाते थे । स्वामित्व प्रकट करने के लिए इनके कान रंगे जाते थे । गाय विनिमय का माध्यम थी । गोधन को “सारे कल्याणों का योग” माना जाता था । मुख्यत: इसी पर आर्यों की नींव टिकी थी ।

दूसरा प्रमुख व्यवसाय कृषि था । कृषि योग्य जमीन को उर्वरा क्षेत्र कहा जाता था । यह पारिवारिक उपयोग में आती थी । किन्तु उस पर पूरे जन का अधिकार माना जाता था ।

खेत सींचने के लिए संकरी नालियों का प्रयोग होता था । खाद से भी लोग परिचित थे । खेती की मुख्य प्रक्रियाएं जुताई, बुनाई, कटाई आदि से लोग अवगत थे । सिंचाई कुँओं, झीलों, नदियों एवं नहरों से होती थी । गेहूँ, जौ, तिल, धान, मसूर, उड़द आदि की खेती होती थी । ऋग्वैदिक काल में शिकार जीविका के लिए नहीं किन्तु माँस, चमड़े और मनोविनोद के लिए किया जाता था । आर्य सम्भवत: कपास से परिचित नहीं थे । अत: वस्त्र अलसी के सूत सोम, ऊन और मृग चर्म से बनते थे । गाँव के चारों ओर चारागाह होते थे । जहाँ सारे गाँव के पशु चरते थे ।

ऋग्वैदिक काल में आर्थिक जीवन के विकास के साथ अनेक व्यवसाय प्रारम्भ हो गये थे । जैसे बढ़ईगिरी, सुनारगिरी, चर्मकारी, वैद्यकारी, जुलाहा-गिरी आदि । डी. उपेन्द्र ठाकुर व डी. शरण के अनुसर - बढ़ई दैनिक आवश्यकता के घरेलू उपकरण के अतिरिक्त घर, रथ, गाड़ी तथा समाज के लिए नीवों का निर्माण करते थे । लुहार शस्त्र व अन्य धातु के उपकरण बनाते थे - नाई रथवाहक, कसाई वस्त्र बनाने वाले आदि इस काल में थे तथा कोई भी पेशा अपनाने को स्वतंत्र थे । लोग स्वयं आभूषणों का भी प्रयोग करते थे । चाँदी से ऋग्वैदिक आर्य परिचित थे अथवा नहीं यह संदिग्ध है । ऋग्वेद में चाँदी के प्रयोग के उदाहरण अवश्य मिलते हैं । सूत कातना तथा कपड़ा बुनना दोनों ही कलाएं इस काल में विकसित थीं ।

ऋग्वैदिक काल में स्वदेशी व विदेशी व्यापार जल व स्थल दोनों ही मार्गों से होता था । व्यापार वस्तु विनिमय द्वारा होता था तथा विनिमय का माध्यम गाय व अन्य वस्तुएं थी । यद्यपि 'निष्क' का भी उल्लेख मिलता है । कुछ इतिहासकारों के अनुसार 'निष्क' सोने का एक आभूषण था, किन्तु अन्य का अर्थ सिक्के अथवा मुद्रा के रूप में लेते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क सिक्के व सोने के आभूषण दोनों के लिए प्रयोग होता था । ऋण लेने की प्रथा थी । ब्याज मूलधन का प्राय: आठवाँ या सोलहवां भाग होता था । ऋण न चुका पाने पर बदले में दास बनने की प्रथा प्रचलित थी । पणि देश-विदेश व्यापार के लिए जाते थे ।

17.3.4 कला कौशल तथा विज्ञान

ऋग्वैदिक आर्य आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण कलात्मक ढंग से करते थे । युद्ध के लिए सुन्दर रथों, लोहे के हथियार व अन्य उपयोग की वस्तुओं का निर्माण करते थे । ऋग्वेद में तीन चक्के वाले रथों का उल्लेख है । अश्विनी कुमारों के बिना घोड़े के रथों का भी उल्लेख मिलता है ।

वेदों में अश्विनी कुमारों का कुशल चिकित्सक के रूप में वर्णन मिलता है । जिन्होंने "विशप्ला" नामक रानी की जांघ टूट जाने पर नकली जांघ जोड़ दी थी । प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी पौधा से इन्होंने कुछ रोग का निवारण किया था । ऋग्वेद के दसवें मण्डल से प्रकट होता है कि आर्य इस सत्य से परिचित थे कि पृथ्वी सूर्य के आकर्षण से बंधी है । नक्षत्रों का भी इन्हें ज्ञान था । "शून्य" आर्यों की ही देन है ।

17.3.5 धार्मिक जीवन

ऋग्वैदिक काल में आर्य प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को देवता मानकर उनकी उपासना करते थे । पृथ्वी, वरूण, इन्द्र, आदित्य (सूर्य), रूद्र, शिव, वायु, अग्नि आदि इनके मुख्य देवता

थे । आर्यों के देवता शक्ति के प्रतीक थे । जैसे रूद्र, वायुवेग व बिजली को, वरूण आकाश को, सूर्य प्रकाश को, इन्द्र असूरों के शत्रु के रूप में प्रसिद्ध हैं । ऊषा व सरस्वती की भी पूजा की जाती थी । आर्य देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करते थे । यज्ञ में दूध, घी, अन्न आदि का प्रयोग होता था, लेकिन सोमरस एवं माँस का प्रयोग भी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था । यज्ञ करना धार्मिक जीवन का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था । कालान्तर में वे प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को एक ही सत्ता के विभिन्न स्वरूप में देखने लगे । इस प्रकार वे बहुदेववादी से एकेश्वरवादी बन गये थे । नदी और वृक्षों की पूजा की प्रथा उन्होंने द्रविड़ लोगों से अपना ली । पितरों की पूजा का प्रचलन था ।

ऋग्वैदिक आर्य मृतकों को प्राय: जलाते थे । उनका विश्वास था कि मनुष्य में ऐसा तत्व होता है जो मृत्यु के बाद इस लोक का परित्याग कर यमलोक अथवा पितृ लोक को जाता है । ऋग्वेद में स्वर्ग-नरक और पाप, पुण्य की कल्पना मिलती है । ऋग्वेद में अमरता का उल्लेख ही मिलता है किन्तु मोक्ष का नहीं ।

उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि ऋग्वैदिक कालीन आर्य सभ्यता, संस्कृति जीवन के विभिन्न पक्षों में सुविकसित और समृद्ध थी ।

17.4 उत्तर वैदिक काल का विकास

ऋग्वैदिक युग के पश्चात्, उत्तर वैदिक युग आता है । ऋग्वैदिक काल में सिर्फ ऋग्वेद की रचना की गई थी । किन्तु इस युग में शेष तीनों वेदों, ब्राहमण ग्रन्थों उपनिषदों एवं आरण्यकों की रचना हुई । इस काल में आर्यों का विस्तार पूरब एवं दक्षिण की ओर हुआ । आर्य संस्कृति का केन्द्र कुरूक्षेत्र बन गया था । हिमालय से विन्ध्याचल के मध्य का सारा क्षेत्र आर्यों के प्रभाव में आ गया था । इस काल में आर्यों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति में ऋग्वैदिक काल की तुलना में अत्यधिक अन्तर आ गया था ।

17.4.1 काल गणना एवं प्रादेशिक विस्तार

उतर वैदिक काल का प्रारम्भिक व अंतिम छोर क्या था, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है । डा. राजबलि पाण्डेय ने प्रारम्भिक आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का काल 5000 ईस्वीं पूर्व एवं उत्तर वैदिक काल 3500 ईस्वीं पूर्व में 2500 ईस्वीं पूर्व माना है । डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने उत्तर वैदिक काल की निचली सीमा प्राय: 600 ई.पू. अनुमानित की है ।

इस काल में युद्ध और संघर्ष करके आर्यों ने अपने राज्य को पूर्व और दक्षिण तक फैला लिया था । विन्ध्यांचल के सघन दुर्गम वनों में आर्यों ने प्रवेश कर दक्षिण में गोदावरी के उत्तर तक शक्तिशाली राज्यों की नींव डाल दी । ज्यों-ज्यों आर्य बढ़ते जाते, त्यों-त्यों बहुत से द्रविड़ तो भाग कर सुदूर दक्षिण की ओर चले गये । किन्तु, अधिकांश उतर में ही रह गये और शनैः-शनै: आर्य लोगों के सम्पर्क में आ गये । इस कार्य में आर्य सभ्यता व संस्कृति पर द्रविड का प्रभाव पड़ने लगा । शतपथ ब्राहमण के अनुसार आर्य सीमावर्ती सागरों से परिचित थे । डॉ.

वीसी. पाण्डेय के अनुसार यद्यपि आन्ध्र प्रदेश के सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का आर्यकरण नहीं हुआ था, तथापि यह संभव है कि आर्य दक्षिण भारत के एक बहुत बड़े भाग से परिचित हो गए थे ।

इस काल में जनपद राज्यों की स्थापना होने लगी । अब राज्य एक जन अथवा जाति तक सीमित नहीं थे, अनेक जातियाँ एक साथ निवास करने लगी । इस काल की राजनीतिक परम्परा में "सार्वभौम" और "अधिराज्य" आदि विविध सत्ताओं का उदय हुआ तथा राज्य वाजपेय "राजसूर्य" तथा "अश्वमेध" यज्ञों के माध्यम से अपनी शक्ति का परिचय देने लगे । इस काल के प्रमुख राज्य कुर और पांचाल के परस्पर संयुक्त हो जाने के कुछ पांचाल के शक्तिशाली राज्य की नींव पड़ी । यह विद्या और सभ्यता का केन्द्र था । यहाँ का राजा जावलि विद्वानों का संरक्षक माना जाता था । इसी परम्परा में राजा परीक्षित का राज्य काल स्वर्ण युग माना जाता था । उत्तर वैदिक काल में विदेह भी ख्याति प्राप्त राज्य था । इसकी ख्याति इसके दार्शनिक राजाओं के कारण थी । "ब्राह्मण" ग्रन्थों व उपनिषद में राजा जनक का "सम्राट" नाम से उल्लेख किया गया है ।

इस काल में सबसे प्रसिद्ध संस्थापक इक्ष्वाकु वंशी भागीरथ था जिसने गंगा के पूर्व की ओर कौशल नामक राज्य स्थापित किया । जिसकी राजधानी अयोध्या सरयू के किनारे बसाई गई थी । कहा जाता है कि राम वैदिक काल में महानतम राजा थे । उनके राज्य में प्रजा इतनी खुशहाल थी कि राम राज्य का अर्थ ही उत्तम राज्य हो गया । राम की ऐतिहासिक पात्रता के बारे में विवादास्पद प्रश्न हैं । यदि राम को ऐतिहासिक पात्र माने तो भागीरथ से राम तक के काल को हम प्रसार युग कह सकते हैं ।

राम के पश्चात् कौशल की शक्ति कम हो गई और कुरू तथा पांचाल राज्य उन्नति की ओर अग्रसर हुए । पांचाल से कुरूक्षेत्र के एक भाग में पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ नामक नया नगर बसाया । शेष कुरू प्रदेश पर धृतराष्ट्र का राज्य था जिसने नेत्र विहीन होने के कारण सारा राज्य भार अपने पुत्र दुर्योधन को सौप दिया था । दोनों पक्षों में 1000 ईस्वीं पूर्व के लगभग कुरूक्षेत्र में महाभारत का घमासान युद्ध हुआ, जिसमें पाण्डव विजयी हुए । पाण्डव बुधिहर ने वर्षों तक न्यायपूर्वक शासन किया ।

17.4.2 राजनीतिक जीवन

इस काल की मुख्य विशेषता शक्तिशाली राजतंत्रों का उदय होना था । ऐतरेव ब्राह्मण में साम्राज्य, गौत्र, स्वराज्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य, सार्वभौम आदि राज्यों का उल्लेख है । राज्य एकतांत्रिक राज्य को कहते थे । सम्राट साम्राज्य की स्थापना करने के पश्चात् अश्वमेघ, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञ कराते थे ।

ऐतरेव ब्राह्मण में लिखा है कि राजा के पद का जन्म अराजकता एवं युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के लिए हुआ था । इस काल में राजा का पद पैतृक था और वह बहुत कुछ स्वच्छंद था । फिर भी वह निरंकुश नहीं था । अभी तक निर्वाचन का सिद्धान्त नष्ट नहीं हुआ था और उसके उत्तराधिकार के ऊपर राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों का प्रभाव था । शासन संचालन में राज्य प्रतिष्ठित मंत्रियों की एक परिषद की सहायता लेता था । इनमें एक प्रधान सदस्य

होता था । महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गोपनीयता रखी जाती थी । राज्याभिषेक के समय राजा शपथ लेता था कि वह धर्मानुकूल प्रजा का पालन करेगा ।

राज्यों की सीमाओं के बदलने के साथ-साथ उसकी उपाधियाँ भी बदलती जाती थी । आर.एस. त्रिपाठी ने लिखा है कि साधारण नृपति के लिए राजा शब्द व्यवहृत होता था, परन्तु अभिराज राजाधिराज, सम्राट, विराट, एकराट और सार्वभौम अधिपति की उपाधियाँ भी राजा लोग धारण करते थे ।

उत्तर वैदिक काल में राजा का पद पैतृक होता था । राजा की देवी उत्पत्ति का सिद्धान्त दृढ़ होता जा रहा था, पर राजा स्वेच्छाचारी नहीं था । उस पर विभिन्न प्रतिबंध थे । अधार्मिक व निरंकुश राजा निन्दा का पात्र समझा था । निर्वाचन का सिद्धान्त अभी नष्ट नहीं हुआ था । अधर्ववेद में एक स्थान पर विश के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है । राज पद की प्राप्ति के लिए प्रजा की अनुमति अथवा अनुमोदन का महत्व था । शतपथ ब्राह्मण ने एक जगह लिखा है कि जिसे सम्पूर्ण प्रजा और राज्य का अनुमोदन प्राप्त होता है वही राजा होता है । जनता की आकांक्षा पूरी न करने पर राजा को अपना पद छोड़ना पड़ता था । पदच्युत राजा के प्रायश्चित कर लेने पर पुन: उसके पद पर नियुक्त कर दिया जाता था ।

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि राजाओं का राज्याभिषेक वैभवशाली ढंग से होता था । यह वैदिक विधि विधान से किया जाता था । राजा प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों को स्वीकार करता था । राजा पृथ्वी इन्द्र, वरूण, अग्नि, सविता आदि देवताओं की पूजा करता था । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा 17 स्रोतों से जल लाकर राजा को स्नान कराया जाता था । राजा शपथ लेता था कि वह विश्वासघात नहीं करेगा अन्यथा धर्म कर्मों के फलों से वंचित होकर दुख भोगेगा । तत्पश्चात् राजपुरोहित द्वारा राजा के पीठ पर दण्ड से प्रहार करता था । जिससे समझा जाता था कि राजा अदण्डनीय है, किन्तु न्याय दण्ड का भार उस पर था ।

उत्तर वैदिक कालीन शासन व्यवस्था का संक्षिप्त इस प्रकार दिया जा सकता है -

इसके अन्तर्गत कर लगाने, एकत्रित करने तथा राजकीय आय सम्बन्धी कार्य आते थे । इस विभाग की देखरेख राजा स्वयं करता था ।

इसमें छोटे से लेकर बड़े अधिकारियों तक के कार्यों का निरीक्षण करने आता था । इसकी जिम्मेदारी अमात्य के ऊपर होती थी ।

इस काल में दोनों संस्थाएं खुलकर वाद-विवाद करने लगी थी तथा सभासदों में भी मतभेद हो जाते थे । राजा इन दोनों की एकता की कामना करता था । अथर्ववेद में इनको, प्रजापति की दो कन्याएं कहा गया है । जैसे-जैसे राजा शक्तिशाली बनते गये, वैसे-वैसे इनका महत्व घटता गया । राज्यों के क्रमिक विकास से उनको क्षति पहुँची होगी और उनके अधिवेशन नगण्य हो गए होंगे ।

भागदुध के द्वारा उतर वैदिक काल में नियमित करों की वसूली प्रतिष्ठित हो गई थी संभवत: बलिकृत को ही कर का अधिकांश भार वसूल करना पड़ता था । ब्राह्मण और क्षत्रियों को कर मुक्त रखा जाता था । ब्राह्मण अपना राजा सोम को मानते थे और क्षत्रिय युद्ध में राजा की सहायता करते थे । अनुमान है कि आय का सोलहवाँ भाग राजा को मिलता था । कर अन्न तथा पशुओं के रूप में भी चुकाया जाता था ।

ऋग्वैदिक काल की तुलना में इस काल में राज पदाधिकारियों की संख्या और अधिकारों में वृद्धि हो गई थी । इन्हें रत्निन कहा जाता था । शतपथ ब्राह्मण में 11 रत्निनों का वर्णन मिलता है - सैनानी, पुरोहित, युवराज, महिषी, सूत, ग्रामीण, क्षता, संग्रहीता, भागदुध, अक्षवाप एवं पालागल। ब्राह्मण ग्रन्थ तथा अथर्ववेद में इन्हें शासक निर्माता कहा गया है ।

इस काल में सामाजिक जीवन में स्थिरता आ गई थी । समाज में नए वर्गों व व्यवसायों की उत्पत्ति हो गई थी । वर्ण गुण-धर्म के स्थान पर पैतृक बन गये थे ।

ऋग्वैदिक काल के चारों वर्ण कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित हो गये थे । ब्राह्मण वर्ग के अनेक वर्ण बन गये थे जैसे - पुरोहित, राजपुरोहित, राजपंथी, शिक्षक, उपदेशक, आचार्य, ऋषि आदि । व्यापार, कृषि तथा अन्य उद्योगों के विस्तार से पेशे से भी बहुत से वर्ण एक दूसरे से अलग हो गए । हीन व्यवसाय करने वालों में भी अनेक वर्ण उत्पन्न हो गए । जैसे पारिवारिक, दास, नौकर, मजदूर आदि । प्रत्येक वर्ग की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपनीत की कल्पना की गई । ब्राह्मण सूत का, क्षत्रिय सन का तथा वैश्य ऊन का यज्ञोपवीत धारण करते थे।

इस काल में यज्ञों की अधिकता के कारण ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हो गई थी । ब्राह्मणों को प्रत्यक्ष देवता के रूप में पूजा जाता था । सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण क्षत्रियों ने अध्ययन क्षेत्र की तरफ भी ध्यान देना शुरू कर दिया था । कई क्षत्रियों के पास तो स्वयं ब्राह्मण भी पढ़ने आते थे । उदाहरणार्थ, ब्राह्मण गार्ग्य ने काशिराज अजातशत्रु के पास अध्ययन किया । जाति व्यवस्था ने आर्यों की सामाजिक व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया । अब सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक संगठित राष्ट्र बन गया ।

वैदिक कालीन जीवन की एक प्रमुख विशेषता आश्रम व्यवस्था थी । जिसके अनुसर मनुष्य की औसत आयु 100 वर्ष मानकर उसके जीवन काल को 4 विभिन्न आश्रमों में विभाजित किया गया ताकि मनुष्य एक निश्चित योजना के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके । वास्तव में यह व्यवस्था मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक विभाजन का पहला शास्त्रीय प्रयास था । मनुष्य का जीवन काल निम्न चार आश्रमों में विभाजित था -

प्रथम 25 वर्ष मनुष्य के ब्रहमचय आश्रम के थे । जिसमें गुरूकुल में रहकर वेदाध्ययन एवं सर्वादित जीवन व्यतीत करना होता था । यह आश्रम उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होता था । मनु के अनुसार ब्राहमण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए । इस काल में विद्यार्थी गुरू के आश्रम में रहकर विज्ञान, धार्मिक ग्रन्थों तथा कलाओं का ज्ञान प्राप्त करता था । यहाँ विद्यार्थी विनयशील, शिष्टाचार, प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता, त्याग और समाज सेवा आदि गुणों को सीखता था । विद्यार्थी भिक्षाटन करता था तथा हवन के लिए समिधा चुनता था । ब्रहमचार्याश्रम की समाप्ति समावर्तन संस्कार द्वारा होती थी ।

शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था । धर्म शास्त्रों में इसे अन्य आश्रमों से सर्वोच्च माना है । इसकी धर्मान्धता के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं -

1. यज्ञ व हवन केवल गृहस्थाश्रम में संभव था ।
2. धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरूषार्थों की साधना भी इसी आश्रम में संभव थी ।
3. व्यक्ति पितृ ऋण, ऋषि ऋण एवं देव ऋण से मुक्त भी इसी आश्रम में रहकर हो सकता था ।
4. मनु के अनुसार यह आश्रम सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें रहते हुए व्यक्ति 16 संस्कार एवं पाँच यज्ञों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता था ।
5. शेष तीनों आश्रमों का भार गृहस्थ जीवन पर पड़ता है । इनके वस्त्र एवं भोजन की पूर्ति गृहस्थ को ही करनी पड़ती थी ।

इस आश्रम में मनुष्य गृहस्थ जीवन का त्याग कर जंगल में चला जाता था । वहाँ घास-फूस की कुटिया में निवास करता, तथा कन्द फूल, फल व भिक्षा से प्राप्त अन्न से गुजारा करता था । वृक्षों या मृगों की खाल पहनता तथा जमीन पर सोता था । इस समय वह शारीरिक तपस्या के साथ वेदों व अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता था ।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में मनुष्य सन्यासी बनकर दण्ड कमण्डल लेकर निरन्तर घूमता रहता था । वह संसार का कल्याण करते हुए मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता था ।

आर्य इन चारों आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतित करने में गौरव मानते थे ।

अथर्ववेद में उल्लेख है कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, पति-पत्नि ही परिवार के मुख्य अंग हैं । पुत्र को पिता का अनुगामी एवं माता के मनोनुकूल चलने वाला होना चाहिए । भाई-भाई, बहन-बहन या भाई-बहन के मध्य परस्पर द्वेष या झगड़ा नहीं होना चाहिए । इससे जीवन में प्रेम का संचार होगा । अथर्ववेद के एक सूक्त में उल्लेख है कि सहृदय और समान मन वाले वनों, परस्पर द्वेष मत करो, तथा परस्पर प्रेम से रहो । यही वह आदर्श है जो हमारे सामाजिक जीवन को सफल बनायेगा ।

इस काल में भी स्त्रियों को समाज एवं गृह में आदरणीय स्थान प्राप्त था । अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि लड़कियाँ भी ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत कर विवाहित जीवन में प्रवेश करती थी । राजघरानों में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी । विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार था । इस काल में धनिक वर्गों में बहुपत्नीत्व की प्रथा अत्यधिक बढ़ गई थी । स्त्रियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार था । गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी महिलाओं के रूप में विख्यात थी । ऐतरेय ब्राह्मण से स्पष्ट होता है कि गान्धर्व ग्रहीता एक परम विदुषी महिला थी । वाजपेय, राजसूय जैसे यज्ञों में भी स्त्रियों के भाग लेने के उदाहरण मिलते हैं । कुछ वीरांगनाओं के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं ।

उत्तर वैदिक कालीन समाज में वैसे तो विवाह प्रथा में अब तक विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया था और दहेज देने कीप्रथा भी थी, पर कभी-कभी दामाद भी श्वसुर को द्रव्य देता था । विवाह को अब भी वही धार्मिक महत्त्व प्राप्त था और इसमें स्वयं देवता आकर भाग लेते थे ।

शतपथ ब्राह्मण में तीसरी या चौथी पीढ़ी में विवाह करने की अनुमति दी गई थी । सगोत्र विवाह की मनाही अभी सम्पूर्ण वर्गों में नहीं हुई थी ।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल तथा अथर्ववेद से पता चलता है कि स्त्री तथा पुरूषों को परस्पर मिलने का अवसर प्राप्त हो जाता था । यद्यपि बाद में इसमें काफी कठोरता आ गई थी ।

बहु विवाह की प्रथा भी उन दिनों प्रचलित थी । मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियों का उल्लेख है । यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक पुरूष कितनी पत्नियाँ रख सकता था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में उल्लेख है कि - "सौत को उड़ा दो, मेरे पति को केवल मेरा ही बना दो। मैं उस सौत का नाम भी नहीं लेती - सौत को दूर भगा दो।" इसी प्रकार अथर्ववेद में उल्लेख आया है - "तेरे भी सन्तान न हो, तू बाँझ हो जाए।" इस प्रकार के विवरणों से ज्ञात होता है कि बहु-विवाह चाहे कम हो या अधिक पर वे पुरूष स्त्रियों के वैवाहिक जीवन को दुःखमय बना देते थे। ऐतरेय ब्राहमण से पता चलता है कि स्त्रियाँ एक साथ भले ही कई पति नहीं रखती हो पर भिन्न-भिन्न समय में कई पति हो सकते थे ।

विधवा विवाह के प्रमाण उत्तर वैदिक काल में भी मिलते हैं । डॉ. बेनी प्रसाद ने अपनी पुस्तम में ऋग्वेद और अथर्ववेद के आधार पर लिखा है कि जिन भागों में सती का विधान देखा गया है वह वास्तव में विधवा विवाह का समर्थन करते हैं । विधूष शब्द से ज्ञात होता है कि विधवा अपने देवर से विवाह कर लेती थी ।

विवाहों में शर्त की भी प्रथा थी । ऋग्वेद में उर्वशी की कथा का वर्णन है कि उसने कुछ शर्तों के साथ पुसरवा से विवाह किया था और शर्त टूटने पर उर्वशी ने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था ।

सारांशत: विवाह संस्था सुस्थापित हो चुकी थी । अविवाहित पुरूष यज्ञ नहीं कर सकते । क्योंकि यज्ञादि के लिए पुत्र आवश्यक था । सती व पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था । बाल विवाह प्रारम्भ हो गए थे और कन्या का विवाह अशुभ तथा कष्टप्रद माना जाता था ।

उत्तर वैदिक कालीन समाज में गतिशीलता विद्यमान थी । सवर्ण विवाह प्रचलित होते हुए भी अन्तर्जातीय विवाह संभव थे । ब्राहमण और क्षत्रिय यदि निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह कर लेते थे तो ध्यान नहीं दिया जाता था, किन्तु वैश्य और शूद्रों को ब्राहमण और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह की अनुमति नहीं थी । व्यवसायों में परिवर्तन भी होता था । ऐतरेय ब्राहमण में सामाजिक सम्बन्धों पर एक रूपक द्वारा चित्र खींचा गया है जो इस प्रकार है - राजन्य अथवा क्षत्रिय समाज का केन्द्र था जिसके चारों ओर समाज की अन्य इकाइयाँ घूमती थी । ब्राहमण सोम पीने वाला, दान ग्रहण करने वाला और स्वतंत्रता से घूमने वाला था, वैश्य समाज के खाद्य पोषण का आधार था, शूद्र, विधेय था और जहाँ चाहे भेजा जा सकता था, उसका अपना कोई व्यक्तित्व और स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था ।

नारी शिक्षा पर बल दिया जाता था । राजा जनक ने अपनी विद्वत्सभा में शास्त्रार्थ के लिए मैत्रेयी तथा गार्गी को आमंत्रित किया था । कई स्त्रियों के युद्ध विद्या में निपुण होने के प्रमाण भी मिलते हैं ।

उत्तर वैदिक कालीन खान-पान और वेशभूषा ऋग्वैदिक काल जैसी ही थी । ओदन, क्षीरोदन तथा तिलोदन संभवत: लोगों का प्रिय भोजन था । बैल, बकरी, बकरा, भेड़ आदि का माँस खाया जा सकता था । गेहूँ, जौ, चावल आदि मुख्य भोजन थे । अपूप भी रूचिकर खाद्य था । वैदिक साहित्य में दूध, घी, मक्खन, दही और शहद का पर्याप्त उल्लेख मिलता है । पेय पदार्थों में सोमरस सर्वोत्कृष्ट समझा जाता था । पूतिका अजुनानि आदि पेयों का भी प्रयोग आरम्भ हो गया था ।

लोग रंग-बिरंगे वस्त्रों के शौकीन थे । पगड़ी प्रथा प्रचलित थी । रेशमी व ऊनी वस्त्र अच्छे समझे जाते थे । आभूषण मुख्यत: ऋग्वेद काल में प्रचलित थे । उदाहरण के लिए शंखों, मोतियों, मणियों आदि का प्रयोग होता था । वेशभूषा में मुख्य उत्तरीय और अन्तरीय वस्त्र पहनते थे । नीवीं पहनने की प्रथा थी । जैसे (उपग्रह) का भी उल्लेख किया गया है । गहने स्त्री और पुरूष दोनों को सुशोभित करते हैं ।

उत्तर वैदिक कालीन आर्यों के शिकार, घुड़दौड़, चौपड़ आदि मनोरंजन के साधन थे । पासा अथवा चौपड़ का खेल जुए का रूप भी धारण कर लेता था । नृत्य और संगीत स्त्री और पुरूष दोनों को ही प्रिय था । सामूहिक सामाजिक उत्सवों पर अपने वाद्य यंत्रों पर वादक गाते थे । वीणा, शंख, मृंदगादि प्रमुख वाद्य थे । नाटकों का भी प्रचलन था ।

17.4.4 शिक्षा और साहित्य

उत्तर वैदिक काल में कर्म, विज्ञान, दर्शन और शास्त्र की दृष्टि से मानसिक विकास का युग रहा । इसी काल में ब्राहमण ग्रन्थों और उपनिषदों की रचना हुई । देश में वैदिक अध्यापकों व अध्येताओं की शाखाएं स्थापित हुई तथा समय-समय पर धार्मिक और दार्शनिक शंकाओं और मतभेदों पर विद्वानों में शस्त्रार्थ होते थे । जिनमें विभिन्न विद्वानों को राजा पुरस्कृत करते थे । सर्वोत्कृष्ट विद्वान को गायें दिए जाने का महत्त्व था ।

ऋग्वैदिक काल की भाँति इस काल में राजकीय संस्थाओं द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती थीं, वरन् विभिन्न विद्वान ब्राहमण, क्षत्रिय, व्यक्तिगत स्तर पर शिक्षा देने के कार्य में लग जाते थे । शिक्षा का लक्ष्य ज्ञान, सम्पति, श्रद्धा व मोक्ष की प्राप्ति था । शिक्षा प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को गुरू के पास विद्याध्ययन के लिए जाना पड़ता था । शिक्षा प्रचार के मुख्य साधन गुरूकुल, आश्रम, परिषद सभा आदि थे । सन्यासी तथा चरक भी विद्या प्रचार करते थे । शिक्षण पद्धति में पाठों का उच्चारण व्याख्या और वाद-विवाद शामिल थे ।

छान्दोम्य उपनिषद के अनुसार पाठ्यक्रम में निम्न विषय शामिल थे- ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद इतिहास पुराण, व्याकरण, राशि, देव, निधि, पिन्य, एकायन, वोकोवाक्य, ब्रहम विद्या, भूत विद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प विद्या एवं देवजन विद्या ।

17.4.5 आर्थिक जीवन

उत्तर वैदिक काल में नए शिल्पों और व्यवसायों का विकास हो गया, किन्तु फिर भी अधिकांश व्यवसाय और उद्योग-धंधे ऋग्वैदिक काल से ही प्रचलन में थे ।

कृषि का महत्त्व इस काल में अत्यधिक था । आर्यों को खेती के तरीकों फसलों बीज आदि की विशेष जानकारी थी । हल, बैल का प्रयोग होने लगा था । हल कभी-कभी तो इतने बड़े होते थे कि उन्हें खींचने के लिए छः, आठ, बारह और चौबीस बैलों तक की आवश्यकता होती थी । आर्य कृषि की सभी प्रक्रियाओं से भली-भाँति परिचित थे । वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थीं । अतिवृष्टि व अनावृष्टि से बचने के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना की जाती थी । कृषि विनाशक कीड़ों के लिए मंत्रों में लोगों का विश्वास था ।

पशुपालन व्यवसाय ऋग्वैदिक काल की तुलना में बढ़ गया था । साधारण प्रजा की नहीं राजा भी पशु धन की कामना करते थे । गोदान महादान माना जाता था । इसके अतिरिक्त भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता आदि पशु भी पाले जाते थे । गाड़ी खींचने के लिए गधों का प्रयोग होता था । अथर्ववेद में ऊँट गाड़ी का भी उल्लेख मिलता है ।

वैदिक साहित्य में स्वर्णकार, रथकार, चर्मकार, रंगरेज, रज्जुकाब, रजक, कुम्हार, लौहार, गायक, नर्तक, सूत, व्याध, मछुए, रसोइए, कलाबाज, महावत, गोप आदि विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों का उल्लेख है । वस्त्र निर्माण विशेषकर ऊनी वस्त्र निर्माण विशेष रूप से होता था । अथर्ववेद में शण का भी उल्लेख है जिससे संभवत: वस्त्रों, बोरों, चटाइयों आदि का निर्माण होता था । सन्यासी व ब्रहमचारी प्राय: जानवरों की खाल पहनते थे । यद्यपि इस काल में ज्योतिषी, वैद्य, नाई आदि व्यवसाय विकसित हुए थे, किन्तु इनका महत्त्व नहीं था । सोने-चाँदी के अलावा अयस के भी आभूषण बनाए जाते थे । टीन और सीसे का भी प्रचलन था । विभिन्न धातुओं से अनेक प्रकार के औजार हथियार, आभूषण, सिक्के आदि बनाए जाते थे ।

इस समय व्यावसायिक संगठनों का भी विकास होने लगा था । श्रेष्ठ-गण और गणपति शब्दों से व्यावसायिक संगठनों का अनुमान लगाया गया था । ऐसा अनुमान है कि समान व्यवसाय के व्यक्ति किसी संघ के अन्तर्गत संगठित हो जाते थे ताकि वे व्यावसायिक कार्यों की देखरेख तथा उनके हितों का संरक्षण कर सके । व्यापारी लोग दूर-दूर तक अपना माल बेचने जाते थे । मार्ग में हिंसक पशुओं व डाकुओं का भय बना रहता था ।

उत्तर वैदिक काल में वस्तु विनिमय के साथ-साथ सिक्कों का भी प्रचलन था । निष्क शतमान कृष्णपाल, पाद आदि नामों से अनुमान है कि ये मुद्रायें ही थी । शतमान स्वर्ण मुद्रा थी । जिसका मान 100 कृष्णाल के समान था । वी.सी. पाण्डेय ने लिखा है कि जिस अर्थ में आज हम मुद्रा का प्रयोग करते हैं, उस अर्थ में उपर्युक्त नामों की मुद्रायें नहीं मांगी जा सकती । उनमें से किसी पर भी राजांक, अधिकार चिंहन, लेख अथवा तोल का अंकन नहीं मिलता । स्पष्ट है कि वे भिन्न-भिन्न तोलों के धातु खण्ड थे, जिन्हें ले देकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता था ।

17.4.6 धार्मिक जीवन

उत्तर वैदिक काल में वेद-वाद और कर्म-काण्ड ने जोर पकड़ लिया था । वैदिक मंत्रों का महत्व बढ़ गया तथा कर्म काण्डों का विस्तार हो गया था । विभिन्न प्रकार के लम्बे, पेचीदे और खर्चीले यज्ञ होने लगे थे । इस काल में मंत्रों की शक्ति द्वारा देवताओं को वशीभूत करने

का प्रयत्न किया जाने लगा था । यज्ञों में बलि प्रथा का प्रचलन बढ़ गया था । कर्मकाण्डों की बढ़ोत्तरी के साथ ही ब्राह्मणों व पुरोहितों की प्रतिष्ठा में भारी वृद्धि हुई। इस काल में कर्म की विवेचना होने लगी और कर्म के आधार पर ही पुनर्जन्म में भारी वृद्धि हुई। इस काल में कर्म की विवेचना होने लगी और कर्म के आधार पर पुनर्जन्म की योनी निर्धारित होने लगी । प्राकृतिक शक्ति के सूचक देवताओं का स्थान, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पार्वती, दुर्गा, भैरव, गणेश ने ले लिया । ये देवता यज्ञों के स्वामी थे । ऋग्वेद काल के छोटे देवता विष्णु इस काल मे प्रधान यज्ञ पुरूष बन गए । देव मण्डल के साथ-साथ अप्सरा, गन्धर्व, नाम आदि अर्द्ध देव योगियों का भी प्रचार हुआ।

इस काल में दर्शन और नीति का विकास हुआ। ब्रह्म और जीव की व्याख्या की गई। ब्रह्म आत्मा में एकता की अनुभूति की अवस्था को मोक्ष कहा गया । पंच महायज्ञों व तीन ऋणों का विचार विकसित हुआ। पंच महायज्ञ थे - ब्रह्मपुत्र, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ एवं भूतयज्ञ ।

इन यज्ञों में मूल सिद्धांत थे जो कि-

1. व्यक्ति संसार में अकेला नहीं होता,
2. समाज के प्रति उसे अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन और निर्वाह करना चाहिए ।
3. व्यक्ति के तीन ऋण होते हैं - देवकण, ऋषिकण तथा पितृकण । ये ऋण समाज और संस्कृति के प्रति मनुष्यों के अधिकार और कर्त्तव्य के अधिकार एवं परिचायक थे ।
4. इसी काल में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सुन्दर समन्वय किया गया ।
5. तपोमन जीवन पर बल दिया जाने लगा । हिन्दू षड़दर्शनों की रचना भी इसी काल में हुई।

17.5 सारांश

यद्‌यपि ऋग्वैदिक संस्कृति की तुलना में उत्तर वैदिक काल नें अत्यधिक उन्नति कर ली थी किन्तु यह भौतिकता की ओर अधिक विकसित थी । सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इस गुण में भारतीय जीवन एवं विचार धारा ने यह मार्ग अपनाया, जिसका सदैव अनुकरण किया गया । इस युग के अन्त तक तत्कालीन राजाओं की बढ़ती हुई शक्ति, अभिमानी महन्तों की अधिक से अधिक अधिकारों के लिए महत्त्वाकांक्षा तथा धार्मिक दृष्टिकोण में तीव्र परिवर्तन भारतीय संस्कृति के एक महान युग के प्रारम्भ का संकेत करते हैं । जिसमें उसके समाज, धर्म, साहित्य, कला के आदर्शों ने कुछ हद तक वर्तमान रूप धारण कर लिया ।

आज जब विश्व के विभिन्न देशों के मध्य विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा है तब भारतीय सभ्यता की सहिष्णुता ही विश्व बन्धुत्व के निर्माण में योगदान दे सकती । एक दूसरे का सम्मान करना, उसके शान का आदर करना तथा आपस में भाईचारे की भावना के साथ रहना, हमारी वैदिक संस्कृति की रीढ़ की हड्डी है । आज आवश्यकता इस बात की है कि अपने प्राचीन गौरव के अनुरूप वर्तमान को सुधारे तथा भावी भारत का निर्माण करें ।

17.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिए -

1. वैदिक युगीन भारतीय राजतंत्र की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
2. ऋगवैदिक काल में आर्यों की आर्थिक दशा का वर्णन कीजिए
3. उत्तर वैदिक काल में आर्यों की आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए ।
4. वेदों के आधार पर आर्यों की राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक दशा का वर्णन कीजिए ।

(आ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिए -

1. वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों का स्तर तथा स्थान आधुनिक कालीन स्त्रियों से किसी प्रकार कम नहीं था । प्रमाण देकर पुष्टि कीजिए ।
2. उत्तर वैदिक काल के वर्णाश्रम व्यवस्था में क्या परिवर्तन आ गए थे । उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए ।
3. ऋग्वैदिक काल के प्रमुख पदाधिकारियों तथा उनके कार्यों का उल्लेख कीजिए ।
4. उत्तर वैदिक काल की सामाजिक तथा धार्मिक दशाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए। पूर्व वैदिक काल की तुलना में यह कितना भिन्न था।

17.7 उपयोगी साहित्य

1. रेपसन - केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया वौल्युम ।
2. वी.एम. आप्टे - वैदिक ऐज ।
3. ए.एल. बाशम - दी वण्डर दैट वाज इण्डिया ।
4. राम, चौधरी एवं मजूमदार - एड़वांसड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ।
5. आर.एस. त्रिपाठी - हिरट्री ऑफ एन्सीएन्ट इण्डिया ।

इकाई - 18 : भारत के धार्मिक समुदाय

रूपरेखा :

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 धार्मिक विविधता
18.3 हिन्दू धर्म
18.4 इस्लाम धर्म
18.5 बौद्ध धर्म
18.6 जैन धर्म
18.7 सिक्ख धर्म
18.8 ईसाई धर्म
18.9 विविधता में एकता
18.10 भारतीय समाज और संस्कृति
18.11 सारांश
18.12 उपयोगी साहित्य
18.13 अभ्यास प्रश्न

18.0 उद्देश्य

भारत में वैदिक काल में सामाजिक-व्यवस्था और धर्म का आधार चार वेद थे । लेकिन कालान्तर में भारतीय समाज में व्यापक परिवर्तन हुए । देश में कई मतों, पंथों, सम्प्रदायों और धर्मों का काफी संगठित और सुपरिभाषित, सैद्धान्तिक ढाँचा विकसित हुआ । इसका कारण यह है कि भारत ने कभी कोई कट्टर धार्मिक-व्यवस्था विकसित नहीं की । जीवन के विविध क्षेत्रों में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन की आजादी है, उसी प्रकार अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार पूजा-पद्धति, अर्चना और धार्मिक सिद्धान्तों के पालन की स्वतन्त्रता रही है । भारत, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक एक है लेकिन यहाँ धर्म के दृष्टिकोण से देखें तो भारतीय समाज बहुवादी चरित्र का देश है ।

भारत में धर्म की परिभाषा करने वाले कहते हैं कि भारत का मूल धर्म आर्य धर्म है या हिन्दू धर्म है और यही हिन्दू धर्म से तात्पर्य है - एक जीवन पद्धति है । भारत में हिन्दुओं में भी जैन, सिक्ख, बौद्ध आदि हिन्दू धर्म की अलग-अलग सिद्धान्तों पर बनी शाखाएं हैं जिन्हें कुछ लोग अलग-अलग पथ मानते हैं लेकिन आज के युग में सम्प्रदाय, पंथ, धर्म आदि के विभेद के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भूलकर सम्प्रदाय के बजाय धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं ।

दरअसल, यहाँ हम भारतीय धर्मों के उदय या इनके स्वरूप का विश्लेषण करने के विवाद से हटकर भारत के प्रमुख धार्मिक समुदायों की चर्चा करेंगे । जैसा कि भारत में सभी धर्मों के लोग सद्भाव से निवास करते हैं और भारतीय धार्मिक समुदायों की विविधता में ही

एकता के सूत्र हैं । यहाँ हर धर्म को ही नहीं किसी धर्म विशेष में भी पूजा-अर्चना की अपनी-अपनी विधि अपनाने की आजादी है ।

इसलिए यहाँ इस इकाई के माध्यम से आप समझ सकेंगे कि भारत में कौन-कौन से प्रमुख धर्म हैं और उनके सिद्धान्त क्या हैं पर्यटन के सन्दर्भ में आप यह स्पष्ट कर सकेंगे कि भारत के विभिन्न धर्म अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे के धर्म का किस प्रकार सम्मान करते हैं और यहाँ हर किसी को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता है।

18.1 प्रस्तावना

भारत में धर्मों के एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में न जाकर अवैदिक धार्मिक समुदायों या आज के सन्दर्भ में भारतीय धार्मिक समुदायों और धर्म विशेष के सैद्धान्तिक पक्षों की चर्चा करेंगे । भारत का धार्मिक-परिवेश अत्यन्त व्यापक है । इसलिए सीमित दायरे में ही धर्मों की जानकारी प्रस्तुत करना सम्भव है । कुछ लोगों का मत है कि भारत में तीन प्रमुख धर्म है - हिन्दू, इस्लाम और इसाई धर्म । परन्तु यहाँ हिन्दू, इस्लाम, जैन, सिक्ख एवं इसाई धार्मिक समुदायों के बारे में जानने का प्रयास किया गया है । इस्लाम और इसाई धर्म को छोड़कर बाकी सब धर्मों, मत-मतान्तरों, पंथों, सम्प्रदायों का जन्म भारत में हुआ है । इस्लाम और इसाई धर्म का उदय तो भारत से बाहर हुआ लेकिन यहाँ आने के बाद इन समुदायों ने भारतीय संस्कृति और दर्शन को प्रभावित किया ।

बहरहाल, पर्यटन के विद्यार्थी होने के नाते आपको भारत की समृद्ध परम्परा की जानकारी होनी चाहिए । यहाँ धर्मों की जटिलताओं या तुलनात्मक विवेचना नहीं की गई है । इस इकाई का लक्ष्य धर्मों की मूलभूत विशेषताओं पर प्रकाश डालना है । दुनियाँ के पर्यटकों की जहाँ भारत के विभिन्न पर्यटन महत्त्व के स्थलों एवं जीवन के विविध पक्षों में दिलचस्पी होती है वहीं उनकी रूचि धार्मिक सन्दर्भ में भी हो सकती है । इस इकाई के द्वारा आप भारत के बहुधर्मी चरित्र को जान सकेंगे और भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है । यहाँ का कोई राजधर्म नहीं है । हर व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता है।

18.2 धार्मिक विविधता

पीपल ऑफ इन्डिया परियोजना के नाम से भारत में किये गये एक सर्वेक्षण में धर्म सम्बन्धी रोचक तथ्य प्रगट हुए हैं । कई धर्मों में अनेक समुदायों के अनुयायी पाये गये हैं । कई समुदाय तो एक या एक से अधिक धर्मों के अनुयायी पाये गये हैं । एक अध्ययन के अनुसार "27 समुदाय हिन्दू धर्म और सिक्ख दोनों के अनुयायी हैं। 116 हिन्दू और इसाई, 35 हिन्दू धर्म और इस्लाम, 21 हिन्दू और जैन और 29 समुदाय हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनों के अनुयायी हैं।" (के.एस. सिह पीपल ऑफ इन्डिया : एन इन्ट्रोडक्शन, पृ. 82-83) । प्रमुख धर्मों के अलावा कुछ स्थानीय धर्म भी है जैसे अरूणाचल मे सूर्य और चन्द्र का धर्म 'पोनी पोलो', मुद्रा और संथाल जाति का धर्म - शरण धर्म या जेहरा और मणिपुर के मेइतियों का धर्म - सानामाली ।

भारत के विभिन्न धर्मों में जन्म, विवाह, मृत्यु से सम्बन्धित कई अनुष्ठान समान है । इसी प्रकार त्यौहारों में भी कुछ अन्तर के साथ समानताएं हैं । अनेक क्षेत्रों में पहनावे और जीवनशैली की समानता है ।

18.3 हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म को किसी एक मत या विश्वास के रूप में व्याख्यायित करना कठिन है । भारत आने वाले विदेशियों ने इस शब्द का प्रयोग सिन्धु घाटी के निवासियों के लिए किया था । बाद में विशेष धर्म के मतावलम्बियों के लिए होने लगा । ऐतिहासिक धार्मिक साहित्य में इसके लिए वैदिक धर्म या वेद का धर्म और सनातन (शाश्वत) का प्रयोग किया गया । हिन्दू धर्म कई प्रकार के मतों एवं विश्वासों का विशाल संग्रह है । इसमें कई पथ और देवी देवता हैं । अपने उदार चरित्र के कारण हिन्दू धर्म ने कई मतों को अपने भीतर समाहित कर लिया । विभिन्नता में एकता के सूत्रों वाला, हिन्दू धर्म सबको जोड़ता है । भारत में हिन्दुओं की संख्या सर्वाधिक है । इसके अनुयायी बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, भूटान, बर्मा, इन्डोनेशिया, गुयाना, फीजी, मारिशस, पाकिस्तान और दुनियाँ के कई भागों में फैले हुए हैं ।

हिन्दू धर्म, विश्व के प्राचीनतम धर्मों में है । शैव धर्म का प्रारम्भ पूर्व वैदिक काल से माना जाता है । कई पंथ और उपपंथ इससे बने और कई इसमें समा गये ।

हिन्दू, एक शाश्वत, अनन्त और चरम सत्ता में विश्वास करते हैं । इसे ब्रहमा कहा जाता है । ब्रहम, घट-घट में व्याप्त है । इसमें ब्रहमा या परमात्मा और आत्मा के सम्बन्धों पर काफी चर्चा की गई है । अधिकांश ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं । ऐसा माना जाता है कि आत्मा अमर है और यह चोला बदलती है अर्थात् एक शरीर से दूसरे में जाती है । इसकी अनन्त यात्रा चलती रहती है । कभी यह मनुष्य का रूप धारण करती है तो कभी पशु या महामानव का रूप लेती है हिन्दू धर्म में जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है । हिन्दुओं के लिए ईश्वर, साधु-सन्तों, पूर्वजों, मानवमात्र एवं समस्त प्राणियों के लिए विशेष कर्त्तव्य होते हैं ।

धर्म द्वारा स्थापित जीवन मूल्यों के अनुसार कार्य करना ही कर्म है । मनुष्य से सत्कर्मों की अपेक्षा की जाती है । मृत्यु का अर्थ शरीर अर्थात् पचतत्त्वों का पंचतत्त्वों में विलीन होना माना जाता है । लेकिन आत्मा अमर है । इसलिए मनुष्य का किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म होता है । यह पुनर्जन्म कर्म पर आधारित माना जाता है।

अच्छे कर्मों से अगला जन्म बेहतर होगा अन्यथा निम्न । मोक्ष को हिन्दू धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है । मोक्ष प्राप्ति के बाद मनुष्य जन्म, मरण एवं पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है ।

हिन्दू धर्म, वेदों से अनुप्राणित है । ये सबसे पुराने हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वेद हैं जिनमें मंत्र या श्लोक हैं । इसके अलावा धर्मशास्त्रीय प्रबंध ग्रन्थों को “ब्राहमण” कहते हैं जो पथ में रचे गये हैं । इनमें विभिन्न अनुष्ठानों का महत्त्व समझाया गया है । वनों में सन्यास का जीवन व्यतीत कर रहे तपस्वियों द्वारा रक्षित ग्रन्थ 'अरण्यक' कहलाते हैं । इनमें साधना सम्बन्धी ज्ञान का समावेश है । उपनिषद्, आरण्यक के अंश हैं । इनमें

भारतीय दर्शन की चर्चा है । ईश, केन, प्रसन, मुंडक, तैत्रेय, ऐत्रेय, छान्दोग्य, मैत्रेयी आदि प्रमुख उपनिषद् हैं । इन सभी ग्रन्थो को ईश्वरीय ज्ञान माना गया है । दूसरी कोटि के ग्रन्थ 'स्मृति' कहलाते हैं । इनका उद्भव मानवीय माना जाता है । इसकी रचना ई.पू. 600 से 1200 के बीच मानी गई है । वेदांगों में कल्प, पुराण, महाकाव्य एवं सूत्र शामिल हैं । मनुस्मृति का निर्माण काफी बाद में हुआ । रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्यों की रचना आरम्भिक स्मृति काल अर्थात् 600 ई.पू. से 200 ई. माना गया है ।

महाभारत के छठे अध्याय में गीता शामिल है । कृष्ण ने महाभारत के कुरूक्षेत्र में अर्जुन को गीता का ज्ञान दिया । शताब्दियों से भागवत गीता हिन्दुओं का पवित्र महाग्रन्थ एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है । पुराणों की रचना भी स्मृति काल में हुई । 18 पुराण हैं जिन्हें संयुक्त रूप से महापुराण कहते हैं ।

18.4 इस्लाम धर्म

इस्लाम धर्म के अनुयायी इसका आरम्भ संसार के शुरू से मानते हैं । उनका मत है कि अल्लाह के पैगम्बरों ने समय-समय पर इस धर्म का प्रचार किया । आज के इस्लाम की शुरूआत लगभग 1900 साल पूर्व सऊदी अरब में हुई थी । पैगम्बर मोहम्मद को अंतिम पैगम्बर माना जाता है । उन्होंने इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया और आज के इस्लाम की नींव डाली । इस्लाम के अनुयायी मुसलमान कहलाते थे । दक्षिण समुद्र तट पर व्यापारियों के साथ मुसलमान 8वीं सदी में भारत आये । इसके बाद उत्तर-पश्चिम सीमा पर मुसलमानों के आक्रमण हुए । मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों ने 8वीं सदी में सिन्ध पर आक्रमण किया। 10वीं सदी के बाद मध्य एशिया में कई आक्रमण हुए । तेरहवीं सदी के आरंभ में मोहम्मद गौरी के नेतृत्व में तुर्कों ने दिल्ली की गद्दी पर कब्जा किया । इसके बाद मध्य एशिया में सूफी संत आये और यहीं बस गये । शेख मोइनुद्दीन चिश्ती भी आरम्भ में आये और अजमेर में बस गये । अब उनकी मजार पर सभी धर्मों के लोग श्रद्धा प्रगट करते हैं ।

इस्लाम के उसूलों में कहा गया है कि एक ईश्वर में विश्वास, जिसका कोई दूसरा रूप नहीं है । वह सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्याप्त है । विभिन्न पैगम्बरों को ईश्वर ने अपने ग्रन्थों से परिचित कराया जिनमें कुरान अंतिम हैं । मूसा और ईसा को मिलाकर भेजे गये सभी पैगम्बर ईश्वर के दूत थे । पैगम्बर मोहम्मद पृथ्वी पर ईश्वर के भेजे अंतिम दूत थे । निर्णय के दिन जब दुनिया समाप्त होगी, लोग अपने कर्मों के अनुसार पुरस्कृत या दंडित होंगे । फरिश्ते ईश्वर की वंदना करते हैं और उसके द्वारा प्रदत्त कार्य पूर्ण करते हैं ।

इनके साथ मुसलमानों के धार्मिक कर्त्तव्यों में दिन में पाँच बार नमाज अदा करने, शुक्रवार को मस्जिदों में विशेष नमाज, जहाँ समुदाय के सब लोग एकत्रित हों, जकात अदा करना अर्थात् अपनी ढाई प्रतिशत कमाई धार्मिक, सामाजिक कार्यों में लगानी चाहिए । एक माह रमजार (अरबिज कलेन्डर का महीना) में रोजा रखना । हैसियत रखने वाले हर मुसलमान को कम से कम जीवन मे एक बार हज (तीर्थयात्रा) के लिए हज करने मक्का जाना चाहिए । मुसलमानों के प्रमुख दो पंथ हैं - शिया और सुन्नी । ये दोनों कुरान में आस्था रखते हैं ।

18.5 बौद्ध धर्म

लगभग 2500 वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म की स्थापना गौतम बुद्ध ने की । इसके अनुयायी श्रीलंका, दक्षिण पूर्व एशिया आदि में फैले हुए हैं । पुराणों में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है । इस कारण कई विद्वान् इसे अलग धर्म नहीं मानते बल्कि हिन्दू धर्म के सुधारवादी आन्दोलन के रूप मे देखते हैं ।

गौतम बुद्ध ने ईश्वर, धर्म-ग्रन्थों और पुजारियों की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अनुष्ठानों का तिरस्कार किया । उन्होंने जाति सम्बन्धी भेदभावों की भी आलोचना की । वे ऊँच-नीच, जाति पुरूष और स्त्री के बीच कोई भेद नहीं मानते । संसार में दुख एक शाश्वत सत्य है और बुद्ध ने इससे निकलने का मार्ग सुझाया है । कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष, उनकी शिक्षा एवं विचारों के केन्द्र बिन्दु हैं । बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों उनकी शिक्षा की व्याख्या की और उसका प्रसार किया । धीरे-धीरे इसमें कई सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय बन गये।

बोद्ध धर्म के सार तत्वों के अनुसार दुख, कष्ट या पीड़ा मनुष्य के जीवन का अभिन्न भाग है और इनसे कोई भी मुक्त नहीं हो सकता है । बीमारी, बुढ़ापा, मृत्यु, इच्छाओं का पूरा न होना आदि इस दुख के लक्षण है । बुद्ध ने जब यह सब देखा तो सोचा कि धन, सत्ता, सुख आदि की लालसा इनके पैदा होने के कारण है इसलिए उन्होंने बताया कि निराशा और पीड़ा से बचने के लिए इच्छाओं पर विजय पाना जरूरी है । बुद्ध के अनुसार अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य बार-बार जन्म लेता है । जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्ति अर्थात् निर्वाण के लिए अपनी इच्छाओं का शयन करना आवश्यक है ।

उन्होंने इच्छाओं को रोकने के लिए अष्टांग मार्ग बताया । बुद्ध के बताये गये इन आठ मार्गों या उपायों में सत्य-दृष्टि, सत्य मनोवृति, सत्य वचन, सत्य व्यवहार, सत्य जीवनयापन आदि प्रमुख है । उनका विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति इस अष्टांग मार्ग के अंतर्गत आठ नियमों का पालन करता है तो वह जीवन-मृत्यु के चक्र से बच सकता है अर्थात् निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।

बौद्ध के सिद्धान्तों को मानने वाले अनुयायियों के लिए आचार-संहिता है और इनको दो भागों में बाँटा गया है - साधारण अनुयायी एवं बौद्ध भिक्षु । बौद्ध भिक्षुओं के लिए कठोर नियमों का पालन करना अनिवार्य है । बौद्ध धर्म में प्रवेश के लिए एक साधारण तरीका अपनाया गया है । बुद्ध की शरण में जाओ, धर्म की शरण में जाओ, संघ की शरण में जाओ, इन शब्दों की शपथ लेने के बाद कोई भी इसमें प्रवेश ले सकता है । उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी बनने के बाद किसी दूसरे धर्म के पालन की अनुमति नहीं होती ।

साधारण सदस्यों को हिंसा न करना, चोरी न करना, परस्त्री गमन नहीं करना, झूँठ नहीं बोलना और नशा नहीं करना, इन पाँच सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है ।

बौद्ध भिक्षुओं को एकांकी जीवन बिताना होता है और दस नियमों का पालन करना पड़ता है जैसे चोरी न करना, हिंसा न करना, यौनाचार न करना, झूठ नहीं बोलना, नशा नहीं

करना, गलत समय भोजन नहीं करना, नाच-गानों या संगीत से दूर रहना, गहनों-जेवरों से दूर रहना, धन न लेना और आरामदायक बिस्तर पर नहीं सोना ।

बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्धमत के धार्मिक स्वरूप पर चर्चा करने के लिए कई परिषदें आयोजित की गई । एक समूह मूल परम्पराओं का अनुयायी था । इस समूह को हीनयान (निम्न वाहम) के नाम से जाना गया । इसका एक नियत धार्मिक ग्रन्थ था । इसे रूढ़िवादी माना गया । इनका मुख्य ग्रन्थ त्रिपिटक का जिसका अर्थ है तीन टोकरियाँ विजय पिटक याने अनुशासन की टोकरी, सूत्त पिटक - उपदेश की टोकरी और अधिधम्म पिटक अर्थात् शिक्षा की टोकरी । इसके अनुयायी मुख्य रूप से पूर्व एशिया, श्रीलंका, बर्मा, थाईलैंड, लाओस, वियतनाम, कम्बोडिया और भारत के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं ।

महायान - दूसरे समूह ने अपनी प्रथाएं और सिद्धान्त बनाये । उन्होंने अपने को महाजन अर्थात् बड़ा वाहन बताया । वे अपने सिद्धान्त को बोधिसत्व कहते हैं । इसमें बुद्ध की सभी सम्भावनाएं निहित है जिन्हें कोई भी पा सकता है । बोधिसत्व पर ही रूकना पड़ता है और वे बुद्ध का पद नहीं पा सकते । बोधिसत्व से दुख से मुक्ति सम्भव मानते हैं । नेपाल, सिक्किम, चीन, कोरिया, जापान मे महायान के अनुयायी हैं । हीनयान, मूर्तिपूजा और ईश्वर में विश्वास नहीं रखता । महायान ने मूर्तिपूजा की अवधारणा शुरू की । बजृयान के अनुयायियों ने चमत्कार और रहस्य का आयाम विकसित किया । वे मानते हैं कि दिव्य शक्ति से मोक्ष पाना सम्भव है । उन्होंने देवियों की आवश्यकता की और देवताओं को शक्ति का स्रोत माना । इस मत के मानने वाले तिब्बत, भारत में बिहार, बंगाल और मलेशिया में फैले हुए हैं । भीमराव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म का सहारा लेकर शोषितों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए कार्य किया।

18.6 जैन धर्म

वैसे देखा जाये तो हिन्दू धर्म में हर किसी को अपने सिद्धान्तों और अपने विचारों के अनुसार आस्था का मार्ग तय करने की छूट के कारण जिस प्रकार बुद्ध ने एक अलग मार्ग के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिए सिद्धान्त तय किये । महावीर ने तत्कालीन समाज की हिंसा के कारण अहिंसा पर आधारित कुछ नियम प्रतिपादित किये जिन्हें मानने वाले जैन कहलाये । इस प्रकार बौद्ध और जैन कई अलग धर्म नहीं बल्कि हिन्दू धर्म से अलग शाखाएं हैं । लेकिन समय के साथ इनकी अलग पहचान के कारण इनको अलग-अलग रूपों में भी देखा जाता है । जैन धर्म के अनुसार समय के चौबीस चक्र हैं । इन्हें एक बड़े विचारक ने जन्म दिया । जैन धर्म के अनुयायी इन विचारकों को तीर्थंकर या शिक्षक या मार्गदर्शक कहते हैं । महावीर 24वें तीर्थंकर माने जाते हैं ।

जैन मत के अनुसार केन्द्रीय सिद्धान्त यह है कि सम्पूर्ण प्रकृति जीवन से भरपूर है । वे निर्जीव पदार्थ में भी जीव (आत्मा) मानते हैं । इसलिए किसी भी जीव को कष्ट देने या मारने का मनुष्य का अधिकार नहीं है । अहिंसा, जैन धर्म का मूल तत्व है जिसके पालन से मुक्ति सम्भव मानी जाती है ।

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने आत्म संयम के चार सिद्धान्त बनाये और महावीर ने एक सिद्धान्त जोड़ा। इस प्रकार जैन धर्म के पाँच सिद्धान्त हैं जैसे 1. अहिंसा - किसी जीव को नुकसान न पहुँचाना 2. सुवर्त - असत्य न बोलना 3. आर्टोय - जो न दिया गया हो, उसे न लेना 4. अपरिग्रह - सांसारिक वस्तु का त्याग 5. ब्रह्मचर्य - अविवाहित जीवन । जैन धर्म के अनुसार कर्म ही स्व को शरीर से जोड़ता है । मिथ्यावाद या अविद्या में कष्ट होता है । क्रोध, लोभ, मान और माया-कर्म के मार्ग में बाधाऐं हैं । सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र के द्वारा मनुष्य अपने जीवन को बंधन से मुक्त करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है ।

इसमें साधारण अनुयायी और यती होते हैं । साधारण अनुयायियों को छूट मिली हुई है और यती के लिए कठोर नियम हैं । दोनों प्रकार के अनुयायियों के लिए त्रितत्व - सत्यनिष्ठा, सत्य ज्ञान और सदाचार का पालन अनिवार्य है । यातियो के लिए जीव हत्या, रात्रि भोजन वर्जित है एवं ब्रह्मचर्य पालन का नियम है । अहिंसा, सत्य वचन, परोपकार, पवित्र मन, नियमित ध्यान, पूर्णमासी, अमावस्या को उपवास, मादक पेय न छूना और धर्मग्रन्थों और मंत्रों का पाठ, आचार-संहिता है ।

18.7 सिक्ख धर्म

सिक्ख धर्म का उदय लगभग 200 साल पहले हुए । गुरूनानक देव (1469-1539) इसके संस्थापक थे । वे प्रथम गुरू माने जाते हैं । इसके बाद कई गुरू हुए । गुरू गोविन्द सिंह (1666-1708) दसवें गुरू हैं । यह धर्म इन दस गुरुओं के उपदेशों पर आधारित हैं । इसमें एक ईश्वर, दस गुरुओं एवं गुरू ग्रन्थ साहिब में आस्था, गुरूमंत्र - वाहे गुरू (ईश्वर तुम महान् हो) का जाप करना, गरीबों को न लूटने या शोषण न करने और जुआ खेलने से परहेज करना, शराब, तम्बाकू नशीले पदार्थ, अफीम आदि का सेवन वर्जित, अमृत अनुष्ठान से पंथ में शामिल करना, सिक्ख अनुष्ठानों का पालन, मूर्ति, मजार, मठों की पूजा वर्जित, पचकारों अर्थात् पाँच प्रतीकों का पालन, धार्मिक आचार-संहिता का पालन जैसे बाल न कटाना, तम्बाकू सेवन न करना, परस्त्री गमन न करना आदि नियम हैं ।

1699 में गुरू गोविन्द सिंह ने अमृत अनुष्ठान प्रथा शुरू की । पंच पिमारे यह सम्पन्न कराते हैं । धर्म का अर्थ समझने की आयु में लड़के-लड़कियों को अमृत पान कराया जाता है । पानी में चीनी मिलाकर उसे खाडे (ढोधारी तलवाद) से चलाया जाता है और मंत्रों का जाप होता है । इस प्रकार अमृत का निर्माण होता है । अमृत पान कर रहा व्यक्ति गुरूवाणी का जाप करते हुए पंथ में आस्था प्रगट करता है । अमृतशन के बाद पाँच प्रतीकों का पालन करना पड़ता है । ये, पाँच प्रतीकों में निम्न प्रकार है -

1. **केश (बाली) -** सिक्ख अपने शरीर के किसी अंग के बाल को काट नहीं सकते ।
2. **कड़ा -** लोहे का कड़ा दाहिने हाथ में पहना जाता है । इससे उसे आचार-संहिता की याद बराबर रहती है ।
3. **कृपाण -** अपनी रक्षा तथा गरीबों एवं मजबूरों की रक्षा के लिए सिक्ख, को एक कृपाण रखना होता है ।

4. **कंघा -** लम्बे बालों को साफ सुथरा रखने के लिए कंघा भी रखना होता है । यह पगड़ी के अन्दर रखा जाता है ।

5. **कच्छा -** ब्रह्मचर्य एवं नैतिकता का प्रतीक है । इससे पता चलता है कि कच्छा पहनने वाला हमेशा संघर्ष के लिए तैयार रहता है ।

सिक्ख अकाल (काल की सीमा से परे ईश्वर) में आस्था रखते हैं और मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते । उनका पूजास्थल गुरू द्वारा होता है । यह सभी धर्मों के लिए खुला रहता है । यह शरणार्थियों जरूरतमंदों का शरण स्थल भी होता है । पैर धोकर, सिर ढककर ही गुरूद्वारे में प्रवेश किया जाता है । गुरूग्रन्थ साहिब की गुरूद्वारे में स्थापना की जाती है और गुरूग्रन्थ साहिब का पाठ किया जाता है । यह भक्तों एवं आम लोगों के लिए रसोई या लंगर की व्यवस्था होती है । सिक्ख धर्म में निरकारी एवं नामधारी शाखाएं हैं ।

18.8 इसाई धर्म

52 ई. में ईसामसीह के शिष्य थामस का केरल तट पर आगमन हुआ । उसने इस इलाके में सात गिरजाघर स्थापित किये । आरम्भ में यह केवल केरल तक सीमित था । 16वीं सदी में यूरोपीय मिशनरी भारत आये और सभी भागों में इसे फैलाया । पहले पूर्तगाली, फिर डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज मिशनरी और अमेरिकी मिशनरी आये । 1996 की जनगणना के अनुसार इसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या 16.77 मिलियन थी अर्थात् देश की जनसंख्या का 2.43 प्रतिशत । सारे भारत में इसाई फैले हुए हैं लेकिन केरल, तमिलनाडु, गोवा, नागालैंड़, मिजोरम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा में इनका संकेन्द्रण है ।

बाइबिल इसाईयों का धर्मग्रन्थ है । इसाई धर्म के केन्द्र में ईसामसीह है । उनका जन्म लगभग 2 हजार वर्षों पहले हुआ । उन्होंने अपने जीवन में कई चमत्कार किये । बीमारों को स्वस्थ किया और मृतकों को जीवनधन दिया । 33 वर्ष की आयु में उन्हें सूली पर लटका दिया गया । इसाई मान्यता के अनुसार तीसरे दिन वे जीवित हो उठे और स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया । उनके भक्तों ने उन्हें एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति एवं ईश्वर का दर्जा दिया । उन्होंने अपने भक्तों को पूरे विश्व में उनके अभिज्ञान के प्रचार का आदेश दिया । इस धर्म के अनुसार ईश्वर अपने को तीन रूपों में प्रगट करता है - पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा में । इस प्रकार ईसामसीह को ईश्वर, पुत्र और माता मेरी को पवित्र आत्मा माना जाता है । मनुष्य के कष्टों का निवारण करने ईश्वर ने ईसामसीह के रूप में मनुष्य का जन्म लिया ।

इनके धार्मिक ग्रन्थ बाइबिल के दो भाग हैं - ओल्ड टेस्टामेन्ट और न्यू टेस्टामेन्टी । ओल्ड टेस्टामेट में यहूदियों के पवित्र लेख और इसाई धर्म का प्रारम्भिक लेख है । यह हिब्रू भाषा में है । न्यू टेस्टोमेन्ट दूसरी शताब्दी में लिखा गया । इसमें 27 पुस्तकें शामिल हैं । ये यूनानी भाषा में हैं । इसमें ईसामसीह के कार्यों आदि का वर्णन है ।

बाइबिल के अनुसार मानव जाति का प्रथम पुरूष आदम था और स्त्री या ईव (हव्वा) थी । वे ईश्वर के प्रति निष्ठावान नहीं रहे । उनके कारण पृथ्वी पर पाप और कुकर्म आये । ईसामसीह के कष्टों और मृत्यु से मनुष्य को अपने कुकर्मों का प्रायश्चित करने का मौका मिला । ईश्वर ने अपनी एक मात्र संतान मसीह को मनुष्य को पतन के गर्त में जाने से बचाने के

लिए पृथ्वी पर भेजा । अत: ईसामसीह को मनुष्य जाति का संरक्षक माना जाता है । ईश्वर कुकर्मों की सजा देता है और सत्कर्मों के लिए पुरस्कार देता है ।

इसाई धर्म के अनुसार मनुष्य में एक आत्मा और शरीर होता है । शरीर नश्वर है और आत्मा शाश्वत है । मोक्ष प्राप्त करके व्यक्ति मृत्यु के बाद भी स्वर्ग में मौजूद रहता है । ईसामसीह को संरक्षक मानने पर ही व्यक्ति के मोक्ष को सम्भव माना जाता है । रविवार को इसाईयों द्वारा ईश्वर का दिन माना जाता है । क्रोस ईसामसीह के बलिदान का प्रतीक है । रविवार को गिरजाघरों में पूजा अर्चना की जाती है ।

इसाई धर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति जन्मजात इसाई नहीं होता । उसे बपतिस्सा (बेपटिज्म) अनुष्ठान द्वारा इसाई बनाया जाता है । इस प्रकार ज्यादा लोगों को इस धर्म के घेरे में लाने और इसाई धर्म के प्रचार पर बल दिया जाता है । इनके भी दो सम्प्रदाय हैं - कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट । प्रोटेस्टेन्ट का उदय 16वीं सदी में हुआ । उनका मानना है कि धर्म और समाज संकट में है । इसलिए इनमें सुधार की जरूरत है । जबकि कैथोलिक ऐसा नहीं मानते । प्रोटेस्टेन्ट पोप की सत्ता को स्वीकार करते हैं । कैथोलिक पोप में श्रद्धा रखते हैं । भारत में कैथोलिक पंथ प्रमुख हैं।

18.9 विविधता में एकता

विभिन्नता में एकता के सन्दर्भ को समझने के लिए भारतीय जीवन दर्शन और सहिष्णुता के आदर्शों को समझना होगा । कई बार भारत में पहली बार आने वाला व्यक्ति असमंजस में पड़ जाता है कि भारत में न केवल क्षेत्रीय, आंचलिक प्रादेशिक स्तरों पर रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा आदि कई प्रकार की अनेक विभिन्नताएं हैं बल्कि यहाँ विभिन्न धार्मिक आस्थाओं को मानने वाले, भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों, पंथों, सम्प्रदायों को मानने वाले लोग रहते हैं और सब एक दूसरे से अलग धाराओं, त्यौहारों, उत्सवों, मान्यताओं आदि के बावजूद किस प्रकार इन विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच इतना सामंजस्य है।

इस विविधता में एकता के रहस्य को समझने के लिए भारतीय संस्कृति को समझना आवश्यक होगा जो 'वसुदेव कुटुम्बकम्' अर्थात् 'सारा विश्व एक परिवार' की प्राचीनतम परम्परा से अनुप्राणित है, के सिद्धान्त पर आधारित है । जब भारतीय समाज को इतनी विशाल दृष्टि दी गई है तो यह राष्ट्रीय स्तर पर संकीर्णताओं को कैसे स्वीकार कर सकता है ।

भारत में विभिन्न धार्मिक आस्थाओं के पनपने और अनेक धार्मिक समाजों और समुदायों के विकास के पीछे यहाँ के समाज के रचनाकारों की यह भावना रही है कि कट्टरता से समाज की सर्जनात्मक शक्ति कम हो जाती है और उसके प्रवाह में ठहराव आ जाता है जबकि जहाँ स्वच्छन्दता के साथ व्यक्ति के निर्णय पर उसके हित का सोच उस पर छोड़ दिया जाता है तो समाज का विकास गति पकड़ता है । जैसा कि अलग से इकाई में बताया जा चुका है कि वैदिक समाज या धार्मिक समुदायों की अपनी प्राचीनतम एवं उन्नत जीवनशैली थी । उसके बाद समाज में परिवर्तन होते गये और अवैदिक धार्मिक समुदायों तक आते-आते समाज में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक परिवर्तन हो गये । अनेक विभिन्नताएं और विविधता के रंग हो गये । फिर भी सभी धार्मिक समुदाय मुख्य राष्ट्रीय धारा से जुड़े हुए हैं और सामंजस्य के

साथ स्वतन्त्र जीवन शैली के साथ शान्ति से रह रहे हैं । इन सबको समझने के लिए युग-युगीन भारतीय समाज, सभ्यता और संस्कृति को समझना होगा ।

18.10 भारतीय समाज और संस्कृति

सभ्यता, एक ऐसे बड़े मानव समूह से बनती है जिसके अपने कुछ विशेष लक्षण होते हैं । इन लक्षणों के कारण उस मानव समूह का अपना एक अलग सामाजिक स्वरूप बन जाता है । प्रथम सभ्यता का आधार आर्थिक उत्पादन की एक विशेष प्रणाली होती है । उसे स्वरूप प्रदान करने के लिए सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाएं होती है । उसमें समूह के सदस्यों की सृजनात्मक प्रतिभा का भी पूर्ण योगदान होता है । सबसे महत्त्वपूर्ण बात सभ्यता की अपनी एक नैतिक दृष्टि भी होती है । इससे प्रेरित होकर सामुहिक स्वरूप एवं क्रियाशैली ही सभ्यता को विशिष्ट पहचान देती है । भारतीय समाज एवं संस्कृति की विवेचना के लिए काफी सीमा तक इस पर निर्भर रहना पड़ता है कि सभ्यताएं विश्व मानव सम्प्रदायों के प्रमुख सामाजिक संगठन हैं । वस्तुत: प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे उपयुक्त पहचान विश्व की एक ऐसी महान् सभ्यता के रूप में की जा सकती है जहाँ विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ सामाजिक व्यवस्था को नैतिक आधार प्रदान करती थी ।

दरअसल, संस्कृति का निर्माण मानव-चेतना से होता है । यह मूल रूप में समग्र होती है इसे भौगोलिक या काल-खण्डों में नहीं बाँटा जा सकता है । चेतना की भाव-भूमि पर ही संस्कृति का विकास होता है । भारतीय संस्कृति समन्वित प्रयासों का प्रतिफल है । जलकणों की भाँति यहाँ विभिन्न धार्मिक समुदाय, एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक प्रवाहमय जलराशि की भाँति भारतीय जीवन का प्रवाह है । धाराएं जो कभी विदेशी समझी जाती थी, जब वे इसके जल में गिरती हैं और ऐसे खो जाती है कि पहचानी नहीं जा सकती ।

भारतीय संस्कृति, एक ऐसी संस्था है, जो ऐसा विशिष्ट मानसिक निखार देती है जिसमें जीवन में व्याप्त सभी विविधताऐं गल-पक कर एक एकता का एक समवेत स्वर बन जाती है । इसी विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता का रहस्य छिपा हुआ है ।

भारत प्राचीन काल में विश्व गुरू कहलाता था क्योंकि यहाँ ज्ञान का सर्वोच्च स्थान था । इसी ज्ञान के प्रति प्रबल, आग्रह, ईश्वर एवं सृष्टि के प्रति सहज समर्पण तथा कर्तव्य पालन का प्रतिष्ठित भाव, भारत के विभिन्न समुदायों को न केवल परस्पर जोड़ता है बल्कि उन सबमें एक ऐसा समवेत स्वर संयोजित करता है जिसमें सद्भाव व्याप्त होता है, राज्य के प्रति साधनात्मक मूल्य व दर्जा तथा विराट आध्यात्मिक सत्ता सहज ही उद्घाटित होती है ।

मनुष्य की यह सहज प्रवृति है कि वह विविधता पसन्द करता है । इस तथ्य को अंगीकार करते हुए भारतीय दर्शन में एकता के सूत्र तैयार किये गये । व्यक्ति अपनी परम्पराओं एवं आस्थाओं से पूर्णतया सम्बद्ध रहते हुए वह राष्ट्रीय स्तर पर एक सूत्र में भी बंधा रहे यही कारण है कि भारत के चार महातीर्थ, भारत की चारों दिशाओं में है जहाँ की यात्रा करने के बाद आदमी की जीवन यात्रा सार्थक समझी जाती है । मनुष्य स्नान भी करता है तो देश की समस्त नदियों के नामों का उच्चारण करता है ।

भारतीय समाज और संस्कृति की विविधता में एकता के स्वभाव की तलाश करने के लिए यहाँ के इतिहास पर एक नजर डालनी होगी और यह देखना होगा कि वैदिक काल में समाज कई खण्डों में बंटा हुआ और जटिल नहीं था तथा उसमें एक सांरकृतिक प्रवाह था । लेकिन कालान्तर में अनेक परिवर्तन हुए । 13वीं सदी में मुसलमानों का शासन और उससे पूर्व अनेक आक्रमण हुए । फिर ब्रिटिश शासन रहा । इन राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के कारण समाज में जो बदलाव आये, उससे पूर्व भी कई परिवर्तन हुए । इन सबके बावजूद समाज में धार्मिक समुदायों की रचना हुई । बहुत कुछ बदला । विभिन्नताएं पैदा हुई लेकिन यह सब बाहरी परिवर्तन थे । भौतिक परिवर्तन थे । भीतर से भारत की संस्कृति इतनी पुष्ट थी कि वह सब कुछ अपने में समाती गई ।

मध्यकाल को दूसरे सन्दर्भ में देखें तो ज्ञात होगा कि अफगानिस्तान या मध्य एशिया से उत्तर भारत के उपजाऊ मैदानी प्रदेशों की ओर समय-समय पर कबाली समुदायों का देशांतरण होता रहा । इससे भारतीय समाज को एक अलग रूप मिला । इनसे भारतीय सभ्यता में नये बौद्धिक मूल्यों तथा भौतिक प्रौद्योगिकीयों का समावेश हुआ । अच्छे जीवन की नई कामनाओं और सामाजिक संगठन तथा आर्थिक उत्पादन की नई व्यवस्थाओं को अपने अन्दर खपाने के लिए भारतीय सभ्यता के सामाजिक मानदंडों का सतत् विस्तार होता गया । इस प्रकार भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में यह गति, यह प्रवाह और विभिन्न बाहरी या भीतरी तत्त्वों को जज करने की क्षमता रही है । यहाँ यह बात भी रेखांकित करना उचित होगा कि नये-नये लोगों तथा नवीन मूल्यों के सतत् प्रवाह के कारण भारतीय जीवन में सदैव एक लोच और नये प्रभावों के प्रति विशिष्ट प्रकार की संवेदनशीलता आई। इसके साथ ही नये आचार-विचारों को भी अपनी विश्व दृष्टि में समाहित करने की अद्भुत क्षमता पैदा हुई ।

अफगानिस्तान या मध्य एशिया से इस्लाम धर्म के मानने वाले कबायिली समुदायों का भारत में आगमन भी देशांतरण की पुरानी प्रक्रिया का अंग था । इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि कोई भी समाज जब अपने संयोजित तत्त्वों को लेकर आगे बढ़ता है तो वह पुष्ट होता जाता है । भारत ने भी उदारता के साथ विभिन्न जीवनशैलियों एवं तत्त्वों को भारतीयता के रंग दिये हैं । किसी भी समाज की परिपक्वता इस बात पर निर्भर करती है कि वह विविधताओं को अपने व्यापक परिवेश में किस प्रकार फलने-फूलने का अवसर देता है और किस प्रकार उन विविधताओं की विशेषताओं एवं कार्य क्षमताओं का उपयोग करता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के विराट स्वरूप में एक गतिशीलता है और विभिन्नताओं को एकता के सूत्रों में पिरोने की क्षमता भी ।

18.11 सारांश

वैदिक काल के बाद से अब तक भारत में हुए अनेक परिवर्तनों और धार्मिक समुदायों की विभिन्न आस्थाओं आदि के विवेचन से स्पष्ट है कि भारत एक उदारवादी एवं सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता का सदैव से पोषण करने वाला देश रहा है और यही कारण है कि समय-समय पर आर्थिक या राजनैतिक कारणों से भारत में जितने भी बाहर से लोग आये, वे यहीं के होकर रह गये । भारत में भी विभिन्न मतो-मतान्तरों, धर्मों, देवी-देवताओं

एवं पूजा पद्धतियों को मानने वालों को पूर्ण स्वतन्त्रता रही है । इन सबसे देश में विविधता के साथ कई धार्मिक समुदाय बने हैं लेकिन इतने धर्मों के विकसित और स्थापित होने के बाद भी उनके बीच एक सामंजस्य एवं साहचर्य है । हजारों सालों से विकास की ओर अग्रसित भारतीय संस्कृति और सभ्यता के ये सब समुदाय अभिन्न अंग हैं ।

पर्यटन के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति की इस विशेषता का भी महत्त्व है क्योंकि ऐसा बहुत कम देखने को मिलेगा जहाँ इतने धार्मिक समुदाय अपनी पहचान कायम रखते हुए भी राष्ट्रीय सन्दर्भों में कहीं एक सूत्र में बँधकर एक हो जाते हैं ।

18.12 उपयोगी साहित्य

1. रॉबर्ट बेयर्ड (संपादन) - रीलिजन इन मॉडर्न इण्डिया, नई दिल्ली 1994
2. रविन्द्र कुमार, आधुनिक भारत, नई दिल्ली 1995
3. एस. राधाकृष्णन, इण्डिया फिलासफी, लन्दन 1923
4. के.एम. अशरफ, लाइफ एण्ड कन्डिशन ऑफ दी पीपुल ऑफ हिन्दुस्तान, दिल्ली 1958
5. भागवत शरण उपाध्याय, भारतीय संस्कृति के स्रोत, नई दिल्ली 1991

18.13 अभ्यास प्रश्न

1. भारत के प्रमुख धार्मिक समुदायों में प्रमुख समुदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।
2. हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?
3. भगवान् बुद्ध कौन थे और उन्होंने क्या सन्देश दिया?
4. जैन धर्म की आचार-संहिता क्या है?
5. बौद्ध धर्म के अनुयायियों को किन सिद्धान्तों का पालन करना जरूरी है?

इकाई - 19 : भारत के उत्सव

रूपरेखा :

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 विभिन्न पर्यटन उत्सव

19.2.1 मरू उत्सव

19.2.2 गज महोत्सव

19.2.3 मेवाड़ उत्सव

19.2.4 ऊँट उत्सव

19.3 खजुराहो उत्सव

19.4 कोणार्क उत्सव

19.5 पुरी का जगन्नाथ यात्रा महोत्सव

19.6 गणेशोत्सव

19.7 दुर्गापूजा महोत्सव

19.8 दशहरा महोत्सव

19.9 भारतोत्सव

19.10 व्यापक एवं विविध परिवेश

19.11 सारांश

19.12 उपयोगी साहित्य

19.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.0 उद्देश्य

त्यौहार, मेले, उत्सव और महोत्सव मात्र मनोरंजन के साधन ही नहीं होते । ये वो अवसर होते हैं जहाँ लोकजीवन या राष्ट्रीय जीवन की धड़कनें एक साथ धड़कने लगती हैं और नृत्यों, गीतों और उमंग-उत्साह से पूर्ण जीवन की सरसता की अभिव्यक्ति होती है । सब कुछ इतना सरल सहज और विविध रंगों से भरा होता है कि किसी भी देश की संस्कृति ऐसे मौकों पर सजीव हो उठती हैं । यही कारण है कि देश-विदेश के पर्यटकों के लिए किसी भी देश की संस्कृत के जीवन्त दर्शन का इन उत्सवों से हटकर कोई और अवसर नहीं होता ।

परम्परागत मेलों और उत्सवों के अलावा भी एक साथ किसी भी क्षेत्र, अंचल, प्रदेश और देश की जीवन्त या प्रदर्शनात्मक कलाओं या सम्पूर्णता के साथ सांस्कृतिक पहचान से पर्यटकों को रूबरू कराने की दृष्टि से देश-विदेश में भारत महोत्सव, नृत्य-महोत्सव, मरू महोत्सव, आदि अनेक उत्सवों का नियोजित आयोजन भी पर्यटन एवं संस्कृति विभागों ने आरम्भ किया है । इन उत्सवों का प्रचार-प्रसार भी किया जाता है और हजारों पर्यटकों का इनमें

शामिल होने का सिलसिला बढ़ रहा है । इस प्रकार देश के पर्यटन को एक नई दिशा देने की दृष्टि से उत्सव भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं ।

यही कारण है कि भारत के विविधताओं से पूर्ण उत्सवों की एक लम्बी श्रृंखला से आपको परिचित कराने के लिए यही इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा का प्रयास किया गया है । इस इकाई के माध्यम से आप देश के उत्सवों की विशेषताएं और उनके मोहक परिवेश को जानकर अपने कर्तव्य के निर्वहन में अधिक सक्षम हो सकेंगे । आप यह भी बता सकेंगे कि आखिर भारतीय परिवेश मे उत्सवों का धार्मिक, सामाजिक एवं मनोरंजन की दृष्टि से क्या महत्त्व है ।

यों तो पर्यटन विकास की दृष्टि से संस्कृति के अनेक पक्ष महत्वपूर्ण होते हैं लेकिन देश की परम्पराओं, संस्कृति और सभ्यता का परिचय देने में उत्सव एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण के माध्यम हैं । इनसे जीवनशैली के कई पक्ष संलग्न होते हैं जैसे गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य, वेशभूषा आदि । ये उत्सव, देश के जीवन के प्रति सरस और सार्थक दृष्टिकोण को भी सम्प्रेषित करते हैं । यही कारण है कि पर्यटन को नये आयाम देने की दिशा में राज्यस्तरीय एवं राष्ट्रीय पर्यटन और संस्कृति विभाग विशेष जोर देते हैं ।

पर्यटकों का इन उत्सवों के प्रति इसलिए और भी अधिक आकर्षण बढ़ा है क्योंकि इनमें शामिल होकर वे न केवल जिन्दगी के एक खुशनुमा माहौल का आनन्द उठा पाते हैं बल्कि परम्परा और संस्कृति की विशेषताओं को हृदयगम करने में भी सफल होते हैं ।

19.1 प्रस्तावना

ऐसे सामाजिक कार्यक्रम जिनमें लोग किसी विशिष्ट अवसर पर पर विशेष उद्देश्य के लिए उत्साह, उमंग के साथ आनन्द मनाते हैं, उत्सव कहलाते हैं । प्रदेश और देश में इस प्रकार के परम्परागत उत्सवों एवं पर्यटन विभागों द्वारा आयोजित उत्सवों का पर्यटन की दृष्टि से प्रचार-प्रसार, से पर्यटन के प्रवाह को गति देने में महत्त्वपूर्ण योग मिला है । उत्सवों की विविधता, इनके रंग, क्रीड़ाएं आदि अलग-अलग छटा लिए हुए । इनमें कुछ धार्मिक रंग लिए होते हैं, तो कुछ मौज-मस्ती और राग-रंगों से भरपूर होते हैं ।

भारतीय जीवन में परम्पराओं के पालन के साथ सामाजिक नियमों का भी महत्त्व है । लेकिन नियमों और बंधनों से जीवन की सरसता चूक न जाये, इस लक्ष्य को सामने रखकर पर्वों, त्यौहारों और उत्सव मेलों का ऐसा ताना-बाना बुना गया हे जो निरन्तर उत्साह-उमंग के प्रवाह को बनाये रखने में सहायक होता है । विशेष बात यह भी है कि ये उत्सव, मौसम की मुद्रा के अनुरूप मनाये जाते हैं । समाज को संयुक्त रूप से संगठित रखने, आपसी सद्भावना को बल देते रहने आदि अनेक ऐसे पक्ष है जो सामुहिक रूप से उत्सवों में शामिल होने और एक साथ खुशियाँ मनाने से सुदृढ़ होते हैं । अत: सामाजिक संरचना को पुष्ट बनाये रखने की दृष्टि से भी उत्सव महत्वपूर्ण हैं और इस युग में पर्यटन में वृद्धि की इनकी नई भूमि जा ने भी इनकी सार्थकता बढ़ा दी है ।

भारतीय उत्सवों को किसी भी अंचल प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर सूचिबद्ध रूप में देखें तो यह उत्सवों की विविधता का एक विशाल रूप होगा । ऐसे में कुछ प्रादेशिक और राष्ट्रीय

उत्सवों की संक्षिप्त चर्चा से ही स्पष्ट हो जायेगा कि आखिर भारत में उत्सवों के क्या अर्थ होते हैं ।

यों तो हर देश और जाति के अपने उत्सव होते हैं । उनको मनाने के भी अलग-अलग ढंग होते हैं । लेकिन भारतीय लोकजीवन, आदिवासियों की विभिन्न जातियों के उत्सवों, प्रादेशिक और राष्ट्रीय उत्सवों में इतनी विविधता है कि सालभर में जब कभी पर्यटक देश का भ्रमण करते हैं तो कोई न कोई उत्सव उन्हें आमन्त्रण देने को तैयार रहता है । आमतौर से लोग सार्थक यात्राएं करना चाहते हैं लेकिन पर्यटकों का लक्ष्य भी अपने देश में निरन्तर एकरस जीवन जीते-जीते, यह मन में आता है कि कहीं और चले, कुछ घूमें, कुछ नया देखें, नया अनुभव करें और लोगों की परम्पराओं, उत्साह, उमंग और खुशियों में शामिल हों ।

इसलिए उत्सवों के पीछे सार्थकता के साथ परम्पराएं, कलाएं और लोगों की आस्थाएं आदि जुड़ी होने के कारण पर्यटकों के लिए उत्सव अर्थात् संस्कृति का यह पहलू, सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र बन जाता है ।

19.2 विभिन्न पर्यटन उत्सव

19.2.1 मरु महोत्सव

पर्यटन की दृष्टि से राजस्थान के रेतीले क्षेत्र जैसलमेर की रेत के टीले, दूर-दूर तक फैली चमकती रेत के बीच की खामोश लोक वाद्यों के मोहक स्वरों, संगीत लहरियों और चटकीले रंगों से भरी लोकजीवन की, बेफिक्र जिन्दगी, पुरानी और शिल्प से पूर्ण हवेलियों ने धीरे-धीरे पर्यटकों को आकर्षित करना शुरू किया । देखते ही देखते जैसलमेर दुनिया के पर्यटकों के आकर्षण का रोमांचक केन्द्र बन गया ।

अपनी विशेषताओं के कारण दुनिया के पर्यटन नक्शे पर अपना नाम अंकित करने वाले जैसलमेर की पर्यटन सम्भावनाओं का पूर्ण उपयोग करने के उद्देश्य से राजस्थान पर्यटन विभाग ने मरू महोत्सव की शुरूआत की ।

राजपूत भट्टी रावल जैसल द्वारा स्थापित जैसलमेर राजस्थान का एक अनूठा स्थान है । थार के रेगिस्तानी विस्तार में यह स्वर्ण नगरी के नाम से प्रसिद्ध है । हवाओं से जैसलमेर के टीलों को एक जगह से दूसरी जगह बनना और धोरों का निर्माण होना अर्थात रेत पर बनती-बिगड़ती लहरों का दृश्य अत्यधिक मनमोहक होता है ।

जैसलमेर की दूसरी विशेषता और मुख्य आकर्षण नगर के हर कोने में छिटकी पत्थर पर कारीगरी या शिल्प । यहाँ पीले पत्थर से बनी अनेक इमारतें, बारीक नक्काशी, अद्भुत कारीगरी से शिल्प और सौन्दर्य का मोहक वातावरण रच देती है ।

जनवरी या फरवरी की सर्द रात में जब पूर्णिमा इन रेतीले टीलों की शोभा बढ़ा देती है, उस समय यहाँ पर्यटन विभाग मरू मेले का आयोजन करता है । चाँदनी रात में जब लोक वाद्यों और लोकगीतों के स्वर लहराने लगते हैं तो लगता है कि धरती पर स्वर्ग उतर आया है । इस अवसर पर कई प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन होता है । विदेशी पर्यटकों एवं स्थानीय लोगों के बीच रस्साकस्सी एवं पगड़ी बाँधने की प्रतियोगिताऐं इस उत्सव के विशेष

आकर्षण होते हैं । इस अवसर पर लम्बी मूँछों का प्रदर्शन और सबसे लम्बी मूँछ वाले को पुरस्कृत करने का कार्यक्रम भी होता है ।

थार का जहाज, ऊँट भी इस उत्सव में आकर्षण का केन्द्र होता है । ऊँटों को अलंकरणों से सजाकर रेत के इस सागर पर ऊँट पोलो एवं ऊँट दौड़ का आयोजन किया जाता है जो अपने आप मे एक रोमांचक नजारा होता है । पूनम की चाँदनी में यहाँ के सम के धोरों में पर्यटकों की यात्रा का अनुभव तो पर्यटकों को भाव-विभोर कर देता है । राजस्थान पर्यटन विकास निगम द्वारा जैसलमेर इलाके में दूर-दूर तक फैली शिल्पगत झोंपडियों एवं ग्रामीण परिवेश की रचना करने के लिए शिल्प ग्राम की स्थापना करती है जहाँ जैसलमेर का लोकजीवन सजीव हो उठता है ।

इन्हीं रोमांचक कार्यक्रमों और उद्भूत मरू उत्सव के माहौल की ओर दुनियाँ के पर्यटकों का रूझान दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है ।

19.2.2 गज महोत्सव

जयपुर के पास पहाड़ी पर स्थित आमेर के महलों की शोभा देखने जाने वाले पर्यटक हाथियों पर सवार होकर जाते थे । हाथी की सवारी के प्रति उनकी रूचि को देखते हुए जयपुर में गज महोत्सव आरम्भ किया गया । गज महोत्सव के प्रथम दिन अलंकरणों एवं हाथियों की परम्परागत सजावट के साथ-साथ ऊँटों, घोड़ों व लोक कलाकारों की शोभायात्रा निकाली जाती है । शाही शान-बान के प्रतीक हाथी अपनी मदमस्त चाल और सजावट से इस उत्सव में चार चाँद लगा देते हैं । इस अवसर पर जयपुर के चौगान मैदान में गज-पोलो देखने का तो रोमांच ही कुछ ओर होता है । हाथियों की दौड़ एवं रस्सा-कस्सी भी रोचक होती है । यह आयोजन रंगों के त्यौहार होली पर होता है । इसलिए हाथियों की होली अर्थात् उन पर सवार होकर रंगों से होली खेलने का दृश्य भी पर्यटकों के लिए अलग ही अनुभव होता है ।

19.2.3 मेवाड़ उत्सव

राजस्थान में आयोजित उत्सवों के सन्दर्भ, उनकी छटा, उनकी रौनक आदि एक दूसरे से बिल्कुल अलग, नये और मोहक परम्पराओं से जुड़े होते हैं । यही कारण है कि वे उत्सव अब अत्यन्त लोकप्रिय पर्यटन उत्पाद बन गये हैं ।

स्वर्ण नगरी जैसलमेर का जहाँ मरू उत्सव अनन्त लोकप्रिय है वहीं गुलाबी नगर जयपुर का गज उत्सव और झीलों की नगरी उदयपुर का मेवाड़ उत्सव अपनी अलग पहचान लिए हुए है । ऋतुराज बसन्त का स्वागत करते के लिए चैत्र के महीने अर्थात् जनवरी /फरवरी में दो दिवसीय मेवाड़ महोत्सव का आयोजन किया जाता है । यह उत्सव भगवान शिव की अर्द्धागिनी पार्वती को समर्पित है । इस अवसर पर उदयपुर की पारदर्शी झीलों पर राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा की परछाईयाँ जीवन्त हो उठती हैं । महिलाओं का महापर्व गणगौर राजस्थान के त्यौहारों और पर्वों में एक ऐसा त्यौहार है जबकि महिलाऐं अपने पति की मंगल कामना के लिए तथा युवतियाँ अच्छें वर की अभिलाषा से माँ गौरी या गणगौर की पूजा करती हैं । महिलाऐं सज-धज कर गौरी की अर्चना करती है ।

इस अवसर पर लैक-पैलेस से गणगौर घाट तक सिर पर गवर या गौरी को बैठाकर ले जाना, विदेशी जोड़ों की राजस्थानी वस्त्र पहनने की प्रतियोगिता, आदि आकर्षण के केन्द्र होते हैं।

19.2.4 ऊँट उत्सव

राजस्थानी परिवेश में सदियों से ऊँट अत्यन्त उपयोगी भूमिका निभाता रहा है ।

1488 में राव बीकाजी द्वारा स्थापित बीकानेर में जनवरी के महीने में कला एवं संस्कृति विभाग एक और महत्त्वपूर्ण पर्यटन आयोजन करता है जो कुछ सालों से ऊँट उत्सव के नाम से लोकप्रिय हो गया है ।

उत्सव के दौरान सुन्दर और सजे-सजाये ऊँटों का यहाँ मेला लग जाता है । इस उत्सव का मुख्य आकर्षण ऊँटों के करतब होते हैं । उत्सव को और अधिक सुन्दर बनाने के लिए लोक नृत्यों, लोक संगीत आदि के भी मोहक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं । रेगिस्तान का जहाज कहलाने वाले ऊँट सालभर सवारी ढोने, माल को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने या कुओं से पानी निकालने आदि के कार्यों में प्रयुक्त होते हैं । लेकिन ऊँट उत्सव के अवसर पर वे अलंकरणों, सजावट की पोशाकों एवं झूमकों, झालरों से सज-धज कर शान से उत्सव की रौनक बढ़ाने निकल पड़ते हैं ।

उत्सव के पहले दिन इन सजे हुए ऊँटों की जूनागढ़ किले के सामने शोभायात्रा निकाली जाती है । वे विभिन्न प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेते हैं । फिर पोलो मैदान में ऊँटों की दौड़, ऊँटनियों का दूध निकालने, ऊँटों के बालों को काटकर उनके शरीर पर विभिन्न डिजायनें सजाना सर्वश्रेष्ठ ऊँट आदि प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है । ऊँट नृत्य भी मनोहारी होते हैं।

बदले हुए युग में जहाँ ऊँटों, हाथियों, घोड़ों आदि के महत्व को आधुनिक जीवन में कम कर दिया है और उनकी उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगा दिये हैं, यह आयोजन, ऊँटों के पालन एवं पोषण को बढ़ावा देने में भी योग देता है और पर्यटन विकास में गहरा योग देता है । शाम के समय इस उत्सव की शान बढ़ाने के लिए परम्परागत गैर-नृत्य, अंगारों पर नाथों द्वारा नृत्य, आतिशबाजी आदि आयोजन किये जाते हैं । इस प्रकार ऊँट महोत्सव, राजस्थान में पर्यटन विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । सामूहिक रूप से ऊँटों पर सवारी के लिए ऊँट सवारी का भी आयोजन किया जाता है ।

इस प्रकार राजस्थान जैसा मध्यप्रदेश भी उत्सवों की दृष्टि से इतना कुछ लिए हुए है कि कोई भी पर्यटक यहाँ अपनी रूचि के अनुरूप उत्सवों में शामिल होकर उनके आनन्द में सराबोर हो सकता है । पर्यटकों की भी कई श्रेणियाँ होती हैं । कोई पर्यटक कम समय लेकर आता है और वह अपनी पसन्द के एक प्रदेश या एक-दो स्थानों का उपलब्ध समय में भ्रमण करता है तो किसी के पास ज्यादा भ्रमण का समय रहता है । इसके अलावा हर पर्यटक की रूचि में भी भिन्नता होती है । ऐसे में सम्पूर्ण भारतीय परिदृश्य पर नजर डालें तो उत्सवों के कई रंग देखने को मिलेंगे ।

19.3 खजुराहो उत्सव

खजुराहो, अपने मूर्तिशिल्प, मंदिरों और स्थापत्य की दृष्टि से इतना अद्भुत है कि लम्बे समय से यह अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन नक्शे पर छाया हुआ है और इसकी लोकप्रियता का ही परिणाम है कि इस पर्यटन स्थल के आसपास पर्यटन सुविधाओं में सुधार हुआ है । यहाँ पर्यटकों के आने के लिए जहाँ साधनों का विकास हुआ है, वहीं उनके ठहरने के लिए आरामदायक विभिन्न श्रेणियों के शानदार होटल भी खुले हैं । यों तो खजुराहो की अनेक विशेषताएं हैं और इस कारण से यह पर्यटकों की अभिरूचि का सबसे बड़ा आकर्षण बना है लेकिन यहां का मूर्तिशिल्प लाजवाब है । यहाँ हिन्दू, जैन और शैव मतों का प्रभाव मंदिरों एवं शिल्प में झलकता है । मूर्तिशिल्प तो ऐसा है कि पत्थरों से जिन्दगी का लोच, लय और मुद्राऐं पारदर्शी रूप में तरलता के साथ व्यक्त होते हैं । इन मूर्तियों, मंदिरों में जहाँ देवी-देवताओं और आराध्य देवों, पौराणिक प्रसंगों, धार्मिक प्रसंगों आदि से जुड़ा मूर्तिशिल्प है वहीं मूर्तियों को गढ़ने वाले शिल्पियों की चेतना को सबसे पहले अपनी इन्द्रियगत भावनाओं को अभिव्यक्त करने का अवसर दिया । यह एक दार्शनिक पक्ष है जो विभिन्न यौन-मुद्राओं में मूर्तिशिल्प में दर्शाया गया है । यह सब तो आकर्षण के पहलू हैं ही लेकिन जो भव्य नृत्य मुद्राओं एवं शिल्पगत वातावरण है, उसकी जीवन्त अभिव्यक्ति को और अधिक रोमांचक बनाने के लिए वहाँ खजुराहो नृत्य समारोह या उत्सव का आयोजन भी विशेष आकर्षण का केन्द्र बन गया है ।

खजुराहो के भव्य एवं समृद्ध कलात्मक एवं शास्त्रीय माहौल में अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए भारतीय शास्त्रीय नृत्य की प्रतिभाएं अपने कला-कौशल के प्रदर्शन को लालायित रहती है । कुछ सालों से खजुराहो नृत्य महोत्सव की हर साल जब धूम मचती है तो दुनियाँ भर के पर्यटक दलों का खजुराहो में मेला लग जाता है । इस प्रकार पर्यटन विकास के सन्दर्भ में खजुराहो उत्सव एक मील का पत्थर साबित हुआ है ।

19.4 कोणार्क उत्सव

भारत में उड़ीसा, बंगाल की खाड़ी के पूर्वी तट पर स्थित है जहाँ से सूर्य भगवान अपने रथ पर सवार होकर निकलते हैं । आधा-अधूरा रहा विशाल सूर्य मंदिर वहाँ इसी सन्दर्भ में निर्मित किया गया था । यह वही क्षेत्र है जहाँ 8वीं सदी (ए.डी.) में पवित्र नगरी भुवनेश्वर, उत्तर भारतीय मंदिर स्थापत्य कला का विकास हुआ था । 9वीं एवं 10वीं सदी तक का समय भुवनेश्वर में कला और स्थापत्य के चरमोत्कर्ष का समय माना गया है । कोणार्क और पुरी के मंदिर इसी समय की रचना है ।

बंगाल की खाड़ी की लहरें कोणार्क के अति विशाल एवं भव्य मंदिर के पाँव पसारती है । यह अपनी शान के कारण लगता है माना स्वर्ग से उतरा है ।

यहीं नहीं उड़ीसा अपने शास्त्रीय संगीत और शास्त्रीय नृत्यों की भी लम्बी परम्परा संजोये हुए है । इन्हीं सब खूबियों के कारण, भारत आने वाले पर्यटकों के लिए कोणार्क और वहाँ आयोजित होने वाला कोणार्क उत्सव, विशेष आकर्षण एवं रोमांच का प्रमुख केन्द्र बन गया है ।

इन उत्सवों की लोकप्रियता बढ़ने का एक कारण यह भी है कि ऐसे अवसरों पर न केवल कोणार्क जैसे प्राचीन स्थापत्य एवं कला से पूर्ण स्थल की शोभा का अवलोकन करने का अवसर मिलता है बल्कि एक ही बार को एक स्थान की यात्रा से पर्यटकों को स्थान विशेष की सांस्कृतिक धरोहर जैसे नृत्यों, संगीत, लोक नृत्यों, लोक कलाओं आदि का एक ही स्थान पर एक मेले अर्थात् संगम से रूबरू होने का अवसर मिल जाता है ।

कोणार्क में भारतीय पौराणिक प्रसंग अर्थात् सात घोड़ों के रथ पर सवार होकर अनन्त आकाश में अपनी यात्रा शुरू करने का दृश्य साकार हो जाता है । बारह जोड़ों के पहियों का रथ जो सूर्य चर का प्रतीक है । इसके साथ ही संगीतज्ञों द्वारा सूर्य की शोभायात्रा, के गायन का दृश्य, राजा और दरबारी, योद्धा, महिलाएं, पुरूष, बच्चे, हाथी, शेर, पक्षी, फूलों की दृश्यावली और युवा प्रेमी जोड़े प्रेमालय में मग्न आदि सब कुछ यहाँ भाव-विभोर एवं मंत्रमुग्ध करने वाला है ।

यहाँ आकर पर्यटकों में उन एतिहासिक घटनाओं का भी एहसास जीवन्त होता है जैसे मंदिर स्थापत्य की कालिंग परम्परा, सदियों की पौराणिक गाथाओं की गूंज सुनाई देना आदि । मार्कट्वेन ने लिखा है कि यह दुनियाँ के आश्चर्यों में से एक है । भुवनेश्वर से 64 किमी. दूर कोणार्क कभी एकान्त में शान्त अपने अतीत के भव्य इतिहास को दोहराता रहता था लेकिन अब यह सड़क मार्ग से भुवनेश्वर से 64 कि.मी. दूर एवं पुरी से 85 कि.मी. दूर है और वायु मार्ग से भी जुड़ा है और यहाँ पर्यटकों का तांता लगा रहता है।

19.5 पुरी का जगन्नाथ यात्रा महोत्सव

भारत के पवित्र चार धामों अर्थात् तीर्थस्थलों में पुरी का नाम शामिल है । यहाँ हर साल जून महीने के आसपास जगन्नाथ की रथयात्रा का महोत्सव होता है । 11वीं सदी में निर्मित पुरी के जगन्नाथ मंदिर से संसार के नग्थ अर्थात् जगन्नाथ भगवान् की शोभायात्रा की एक झलक देखने के लिए लाखों श्रद्धालु उमड़ पड़ते हैं । श्रद्धालुओं द्वारा खींचे जाने वाले रथ में परम्परागत रूप से जगन्नाथ, उनकी बहिन शुभद्रा एवं भाई बलभद्र की उनके रथों में भव्य शोभायात्रा का आयोजन होता है । यह धर्म और पौराणिक प्रसंग पर आधारित उत्सव, जन-जन का उत्सव बन जाता है ।

इस प्रकार यह मंदिर उत्सव, पुरी में पर्यटकों के लिए एक चुम्बक की तरह है जहाँ इसकी शोभा में व्यक्त श्रद्धालुओं की भक्ति-भावना की जीवन्त अभिव्यक्ति होती है ।

19.6 गणेशोत्सव

गणेशोत्सव की धूम अगस्त / सितम्बर में देखने योग्य होती है और महाराष्ट्र में तो गणेशोत्सव की शान निराली होती है जब हर घर गणेशोत्सव में ‘ श्रद्धा से डूब जाता है । शिव और पार्वती के पुत्र गणेश, हिन्दुओं के सर्वप्रथम पुज्य देव हैं । हिन्दुओं के हर द्वार पर गणेश प्रतिमाएं सजी रहती हैं । वे अमंगलहारी और मंगलकारी देव हैं ।

हर साल गणेशोत्सव मनाया जाता है लेकिन महाराष्ट्र में गणेश चतुर्थी से शुरू होकर लगभग सप्ताह भर गणेशोत्सव के अन्तर्गत विभिन्न स्थानों पर भव्य झांकियाँ बनाई जाती है । पूजा-अर्चना की जाती है । रंग-बिरंगी रोशनी और सजावट वाले पांडालों में इस उत्सव की शोभा

देखते ही बनती है । भारतीय संस्कृति की यह परम्परा भी पर्यटकों के लिए एक विशेष आकर्षण का केन्द्र होती है । इसके बाद समुद्र में गणेश प्रतिमाओं का विसर्जन किया जाता है । यों प्रतिमाओं की शिल्प और सौन्दर्य के साथ तैयार करना, उनकी पूजा-अर्चना करना और फिर सागर में विसर्जित किये जाने की यह परम्परा भी पर्यटकों के लिए कौतूहल का विषय होती है । वे भारतीय धर्म और दर्शन की इस प्रकार के उत्सवों में जमी जड़ों को तलाशने लगते हैं ।

19.7 दुर्गापूजा महोत्सव

वैसे तो पूरे देश में नवरात्रि अर्थात् नौ दिन तक दशहरा के पूर्व दिन तक शक्ति की प्रतीक माँ दुर्गा की पूजा-अर्चना की परम्परा है लेकिन बंगाल में दुर्गापूजा महोत्सव की शान निराली होती है । कहते हैं कि राम ने रावण को वध करने के लिए माँ दुर्गा की पूजा-अर्चना की थी । बंगाल में जहाँ रात-रात भर पंडालों में माँ-दुर्गा के विभिन्न रूपों में प्रतिमाओं की शोभा बढ़ जाती है और पूजा-अर्चना में लोग डूब जाते हैं । धर्म और आस्था का यह दृश्य हर किसी को रोमांचित कर देने वाला होता है ।

यदि गुजरात जायें तो वहाँ नवरात्रा में माँ -दुर्गा की आराधना संगीत की धुनों के साथ गरबा-नृत्यों के माध्यम से की जाती है और अब तो गरबा की धूम पूरे देश में लोकप्रिय हो गई है । यह बात अलग है कि अब इस पर धर्म से सम्बन्धित और आराधना पक्ष की तुलना में आधुनिकता का रंग भी चढ़ा है ।

बंगाल में दुर्गापूजा को काली पूजा भी कहते हैं । महाकाली एवं अन्य मंदिरों में काली से जुड़ी प्रथाओं के समय भारी भीड़ जमा हो जाती है । जिस प्रकार महाराष्ट्र में गणेश उत्सव से महीनों पहले गणेश-प्रतिमाओं के शिल्पी प्रतिमाएँ बनाने में जुट जाते हैं, उसी प्रकार बंगाल में दुर्गापूजा से पूर्व माँ दुर्गा की विभिन्न आकारों में विभिन्न मुद्राओं वाली मूर्तियाँ बनाने का काम जोर पकड़ लेता है । इस प्रकार इन उत्सवों से धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ कला और शिल्प का भी पुराना नाता है ।

पूजा-अर्चना की परम्परा पूर्ण होने पर इन प्रतिमाओं का भव्य शोभायात्राओं के साथ सागर या नदी में विसर्जन किया जाता है । परम्परा का यह रूप भी विदेशी पर्यटकों के लिए आश्चर्य और जिज्ञासा का विषय होता है और जनजीवन की झलक पाने एवं उनके जीवन दर्शन को यों समझने का अवसर भी होता है ।

19.8 दशहरा महोत्सव

नवरात्रा महोत्सव की समाप्ति के अगले दिन दशहरा पर रावण दहन किया जाता है । यह बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक है । जो कुछ अनिष्ट है, उसे जलाकर अच्छाई की विजय का उत्सव है यह विजयोत्सव या दशहरा ।

सदियों से भारतीय समाज में नगरों-कस्बों और गाँव-गाँव, रामलीला मैदानों पर रावण, कुम्भगर्ण और मेघनाथ के रंग-बिरंगे कागजों से तैयार पुतलों का दहन किया जाता है । दहन से पूर्व प्रतीकात्मक तरीके से इन पुतलों का तीर से वध का प्रसंग दोहराया जाता है ।

दशहरा उत्सव के साथ माध्यम से संस्कृति के विभिन्न पक्षों और परम्पराओं से जुड़े रहते है । आम दशहरा मेलों और उत्सवों से हटकर कुल्लू-मनाली और मैसूर के दशहरा उत्सव अलग हैं और यही कारण है कि ये उत्सव अब पर्यटकों के आकर्षण के प्रमुख केन्द्र बन गये हैं । कई दिनों तक नृत्यों, गीतों एवं सांस्कृतिक प्रस्तुतियों के साथ ये सम्पन्न होते हैं ।

इसी प्रकार भारतीय उत्सव एवं त्यौहारों की भी लम्बी श्रृंखला और परम्परा अपनी विविधता के कारण आकर्षण लिए होती है जिसकी चर्चा अलग इकाई में की गई है । लेकिन यहाँ राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्यौहारों में रंगोत्सव होली और दीपोत्सव दीपावली की चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा ।

अमावस की अंधेरी काली रात में नन्हे-नन्हे द्वीपों की झिलमिलाती रोशनी द्वारा अंधेरों को चुनौती देने वाली यह परम्परा भी पर्यटकों के लिए एक विशेष आकर्षण होती है । इसी प्रकार सर्दी के ठिठुरते दिनों के बाद होली की लपटों में आसुरी शक्ति को भस्म करने के प्रसंग का उत्सव मनाने के अगले दिन रंग-बिरंगे रंगों की बौछारों से आपसी मन का मेल धो डालने और रंगों से भरा माहौल पैदा कर देने की परम्परा भी अपने आप में अनूठी भारतीय परम्परा है जो पर्यटकों को लुभाती है । कई बार तो पर्यटक स्वयं इस उत्सव में आतुर होकर होली के रंगों में नहाने लगते हैं ।

19.9 भारतोत्सव

विदेशों में पर्यटन को बढ़ावा देने तथा भारतीय कलाओं से विदेशियों को रूबरू कराने के लिए भारतोत्सव की शुरूआत की गई थी जैसे अमेरिका या जर्मनी या जापान में भारतोत्सव आदि । दरअसल, भारत की प्रदर्शनात्मक कलाओं, जैसे शास्त्रीय एवं लोक नृत्यों, संगीत आदि की सम्पूर्णता को क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्वरों में समेटकर विदेशों में प्रस्तुत करने की यह परम्परा पर्यटन विकास एवं भारतीय संस्कृति की समृद्धि के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पर्यटन कदम था लेकिन इसे स्थायी एवं संगठित रूप नहीं दिया जा सका । इसका कारण यह भी हो सकता है कि परम्पराएं, संस्कृति और मान्यताओं की अपनी-अपनी भाव-भूमि एवं परिवेश होता है । इनकी सहज और सरल अभिव्यक्ति ही लुभावनी होती है । इसमें नाटकीयता या बनावट का अंश मात्र भी इसके स्वरूप में विकृति उत्पन्न कर देता है और उसके बाद वह हर किसी व्यक्ति को रोमांचित कर देने की क्षमता खो देती है ।

बहरहाल उत्सवों की संक्षिप्त झांकी से यह तो स्पष्ट है कि भारतीय पर्यटन को ऊँचाई देने के लिए अभी उत्सवों को पर्यटन उत्पाद के रूप में प्रस्तुत करके इस दिशा में आगे बढ़ने की अत्यधिक गुंजाइश है । वास्तव में, यहाँ तो पर्व हो या त्यौहार, हस्तकलाएं हों या नृत्य-संगीत या मूक स्मारक, मंदिर या दुर्ग, अपार संभावनाओं का खजाना है, आवश्यकता ऐसे संकल्प की है जो इन सम्भावनाओं का उपयोग करके पर्यटन को नई दिश दे सके ।

19.10 व्यापक एवं विविध परिवेश

अपने सुख-दुख को आपस में बाँटने की प्रवृति कोई नई बात नहीं है । यह मनुष्य के स्वभाव एवं प्रकृति का अभिन्न अंग है । यही कारण है कि हर देश और जाति के अपने-अपने

त्यौहार और उत्सव होते हैं लेकिन विस्तार और विविधता की दृष्टि से जितने अधिक और विभिन्न त्यौहार और उत्सव भारत में मनाये जाते हैं, उतने शायद ही कहीं अन्यत्र हों ।

इनसे सामाजिक रीति-रिवाज, मान्यताएं, प्रथाएं, विश्वास और भावनाएं जुड़ी रहती है । एक विशेषता यह भी है कि हर उत्सव का अपना विशेष वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक दर्शन है ।

विविधता के स्तर पर राजस्थान के गज-उत्सव, मेवाड़ उत्सव, ऊँट उत्सव और मध्यप्रदेश के खजुराहो उत्सव की अपनी अलग ही पहचान है । महाराष्ट्र में गणेशोत्सव, बंगाल में दुर्गापूजा, मैसूर में दशहरा तो पुरी में जगन्नाथ यात्रा उत्सव और भुवनेश्वर के कोणार्क उत्सवों की अपनी निराली शान है । उत्सवों का इतना व्यापक फलक है कि इसमें दुनियाँ भर के विभिन्न रूचि के पर्यटकों को आकर्षित करने की क्षमता है ।

लेकिन मुश्किल यह है कि आज का युग सूचना-युग है । सूचनाओं में बड़ी शक्ति है लेकिन इनका समुचित और बुद्धिमतापूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए । पर्यटन के क्षेत्र में इन सब सम्भावनाओं की जानकारी तो है परन्तु इनके उपयोग की नियोजित एवं समेकित योजना और दृढ़ कार्यशक्ति की काफी कमी है । पर्यटन को उद्योग का दर्जा तो दिया गया है । इस उद्योग की अपार सम्भावनाओं के दोहन की दिशा में अभी भी बहुत कुछ करना शेष है ।

19.11 सारांश

भारतीय संस्कृति में यह आह्वान है कि उठो, जागो और जब तक लक्ष्य प्राप्ति न हो, प्रयत्नशील रहो । संसार में जो कुछ उपलब्धियाँ विज्ञान या अन्य क्षेत्रों में देखने को मिलती है वे एक दृढ़ कोशिश और संकल्प का ही तो परिणाम है । केवल संकल्प लेने से काम नहीं चलता। संकल्प के बाद उसे क्रियान्वित करने से सफलता मिलती है । भारत जैसे विशाल देश के पास भी बड़े संकल्पों की कोई कमी नहीं हैं लेकिन, लगता है कि संकल्पों के अनुरूप कार्यशील होने के सन्दर्भ में कहीं कमी है ।

यहाँ चर्चा उत्सवों की गई है । इसलिए उत्सवों के रोमांच की दिशा में विपणन या मार्केटिंग का हथियार लेकर आगे की यात्रा शुरू की जाये तो भारतीय पर्यटन उद्योग में नवजीवन का संचार करना सम्भव है । दुनिया के कई देश इस ओर प्रगति कर रहे हैं हम भी प्रतिस्पर्द्धा की इस दौड़ में आगे बढें । प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर पर्यटन विभाग कार्यरत है । इन्हें कुछ बताया जाये तो उपयोगी नहीं होगा क्योंकि इनकी सरकारी कार्यशैली है और पर्यटन, एक व्यावसायिक या विपणन की शैली से ही अधिक विकसित हो सकता है । इसमें सृजनात्मक सोच चाहिए । बने-बनाये ढाँचे में ऐसी सोच अधिक नहीं पनपती ।

ऐसे में, भारतीय उत्सवों की उज्ज्वल परम्परा की रोशनी में हमें अपने वर्तमान परिदृश्य को देखकर सम्भावनाओं के दोहन की ओर बढ़ने के प्रयास करने होंगे ।

इस विश्लेषण का यह तात्पर्य नहीं है कि पर्यटन उद्योग के विकास के लिए कुछ भी नहीं किया गया है । बहुत कुछ किया गया है लेकिन बहुत कुछ और करने की आवश्यकता है । इसलिए भारतीय उत्सवों को राज्यों एवं केन्द्र को एक साथ समेकित योजना के साथ प्रचारित-प्रसारित करने की आवश्यकता है ।

संस्कृति, वास्तव में किसी देश की जीवनशैली, उसकी कलाओं, त्यौहारों और उत्सवों में प्रगट होती है । ये उत्सव हमारे जीवन की शैली, आस्थाओं, धार्मिक, सामाजिक विश्वासों और सम्पूर्ण संस्कृति की धड़कन है । यह जीवन का स्पन्दन है । इसलिए स्मारकों, मंदिरों, हस्तशिल्प, नृत्यों, संगीत आदि प्रदर्शनात्मक कलाओं आदि के सन्दर्भ में जीवन की उमंगों, संवेदनाओं के प्रतीक उत्सवों का विशेष महत्व है ।

ये सामुहिक आयोजन हैं जहाँ समूह या जन-जन के भावों की सामुहिक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । यही संस्कृति का जीवन्त प्रभाव है ।

भारतीय संस्कृति के गतिमय सतत् प्रवाह के प्राचीन काल से बने रहने का प्रमुख कारण भी यह है कि यह एक सजीव संस्कृति है । यह मूर्तरूप में है न कि अमूर्त अभिव्यक्ति । भारतीय जीवन दर्शन का आधार प्रकृति के नियमों पर आधारित है और आध्यात्म की ठोस नींव पर इसका विराट स्वरूप स्थित है ।

उत्सवों का महत्त्व इसलिए भी है कि इस सजीव पक्ष की अभिव्यक्ति इनके माध्यम से होती है । संस्कृति की तात्विक विशेषताओं का विश्लेषण या उसके स्वरूप का सूक्ष्म वर्णन उसे समझने में उतना कारगर नहीं हो सकता जितना कलाओं या उत्सवों के माध्यम से सहज प्रगटीकरण से सम्भव है ।

इसलिए इन उत्सवों के धरातलीय स्तर पर विभिन्न रूपों को देखते समय इनके पीछे या इनके साथ जुड़े उन धार्मिक प्रसंगों, मनोवैज्ञानिक या वैज्ञानिक पक्षों की तह में जाने का भी प्रयास किया जाना चाहिए । ऐसा करके किसी भी उत्सव का मर्म समझाने में मदद मिल सकती है । आमतौर से लोग किसी उत्सव के प्रारम्भ होने के सन्दर्भ के साथ उसकी वर्तमान ऊपरी दशा-दिशा का संकेत मात्र करते हैं । यह पर्याप्त नहीं है क्योंकि जो दिखाई देता है वह तो स्पष्ट है और उसे कोई भी समझ सकता है ।

महत्वपूर्ण तो उत्सव के आयोजन का प्रयोजन है । आखिर हर साल किसी उत्सव को दोहराते रहने का तात्पर्य क्या है । किस प्रकार ये उत्सव संस्कृति को पुष्ट बनाये रखने में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं । यह बात महत्वपूर्ण है ।

इसलिए पर्यटन के परिप्रेक्ष्य में इन उत्सवों की उपयोगिता को समझने का प्रयास करना चाहिए और इनके ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों पर मनन करना चाहिए । इनमें मनोरंजन भी है, सामाजिक दृष्टि से सार्थकता भी और सांस्कृतिक उपादेयता भी ।

19.12 उपयोगी साहित्य

1. राम आचार्य, टूरिज्म इन इन्डिया, नेशनल, नई दिल्ली 1977
2. एस.ए. हुसैन, इन्डियन कल्चर, एशिया, बम्बई, 1963
3. स्वर्ण खाण्डपुर, इन्डिया, दी लेन्ड एण्ड इट्स पिपुल, रत्न भारती, बम्बई 1971
4. ए.एल. बाशम द वन्डर दट वाज इन्डिया, सिजनिक लन्दन
5. मैथिव कुरियन, इन्डिया स्टेट एण्ड सोसायटी, बम्बई आरियन्ट, लन्दन 1975

19.13 अभ्यास प्रश्न

1. राजस्थान के प्रमुख उत्सव कौन-कौन से हैं ?
2. खजुराहो उत्सव क्यों प्रसिद्ध हैं?
3. कोणार्क की विशेषताएं बतायें?
4. बंगाल और गुजरात में कौन से उत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है ?
5. महाराष्ट्र और मैसूर के उत्सवों का वर्णन कीजिये ।

इकाई - 20 : पर्यटन के विविध रूप (केस स्टडीज)

रूपरेखा :

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 गोवा में पर्यटन
20.3 हिमालय क्षेत्र में पर्यटन
20.4 अवध क्षेत्र में पर्यटन
20.5 बुन्देलखण्ड में पर्यटन
20.6 प्रकृति और पर्यटन
20.7 सारांश
20.8 उपयोगी साहित्य
20.9 अभ्यास प्रश्न

20.0 उद्देश्य

पर्यटन के क्षेत्र में गत कुछ समय से नयी सोच, नये विकास के आयाम स्थापित किये जाने और नई व्यूह-रचना का सिलसिला शुरू हुआ है । इन प्रयासों से पर्यटन की कुछ समस्याएं एवं क्षेत्र विशेष के कई पक्ष उभरकर सामने आये हैं । इन प्रयत्नों से उजागर हुई कुछ बातों से आप परिचित हो सकें, इस उद्देश्य को लेकर कुछ अध्ययन (केरा स्टडीज) का यहाँ ब्यौरा देने का प्रयास किया गया है । इस इकाई के अध्ययन से आप यह बताने में सक्षम होंगे कि पर्यटन के क्षेत्र में किस प्रकार की प्रमुख समस्याएं हैं और उनके निदान की दिशा में क्या-क्या प्रयत्न हो रहे हैं ।

इस अध्ययन से आप यह जानकारी भी कर सकेंगे कि हर क्षेत्र की अपनी पर्यटन विशेषताएं होती हैं जो दुनियाँ के पर्यटकों को आकर्षित करती है, लेकिन इनकी क्षमता का सम्पूर्ण उपयोग करने और पर्यटन को और आगे बढ़ाने के लिए किस प्रकार की व्यूह-रचना करने की जरूरत है ।

भारत के समृद्ध एतिहासिक एवं सांस्कृतिक वैभव को किस प्रकार प्रस्तुत किया जाये अर्थात् मार्केटिंग की भाषा में इसकी मार्केटिंग या विपणन किया जाये ताकि जो क्षमता (पोटेन्शियल) है, उसका समुचित दोहन हो सके । दूसरे शब्दों में अपार सांस्कृतिक एवं पर्यटन सम्पदा से विश्वभर के पर्यटकों को परिचित कराने और आकर्षित करने के लिए किन-किन उपायों की जरूरत है ।

यहाँ प्रस्तुत पर्यटन पक्षों से आप परिचित होने के बाद यह बताने में सक्षम होंगे कि भारतीय पर्यटन क्षेत्र में विकास के लिए क्या कुछ किया जा रहा है । भारतीय पर्यटन की वर्तमान दशा-दिशा का भी आप ज्ञान करा सकेंगे ।

20.1 प्रस्तावना

पर्यटन के विविध पक्षों की चर्चा से प्रेरित होकर प्रदेशों एवं देश के स्तर पर पर्यटन योजनाओं का बुद्धिमतापूर्ण नियोजन किया जाये तो सामाजिक आर्थिक प्रगति का यह एक बड़ा माध्यम बन सकता है । पर्यटन समसामयिक बढ़ता उद्‌योग है और विश्व के कई देशों ने इसका विकास करके विदेशी मुद्रा अर्जन एवं रोजगार का इसे एक बड़ा माध्यम बना रखा है । प्रादेशिक स्तर पर भी यह एक महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि सिद्ध हुई है । आय प्राप्ति, रोजगार के अवसर बढ़ाने एवं ढांचागत सुविधाओं में सुधार करके क्षेत्रीय विकास को भी इससे गति देना सम्भव है ।

वे क्षेत्र जो प्रकृति के सौन्दर्य से तो भरपूर है परन्तु जहाँ रोजगार के लिए पर्याप्त स्रोत नहीं हैं, वहाँ प्रकृति-प्रदत साधनों का उपयोग करके रोजगार एवं आर्थिक मोर्चे पर विकास किया जा सकता है । इन कारकों की वजह से आधुनिक युग में पर्यटन की महत्ता बढ़ी है । लेकिन पर्यटन में वृद्धि करने और इसका विकास करने के मार्ग में कई कठिनाईयाँ हैं । कई समस्याएं हैं । प्राकृतिक, एतिहासिक या सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्रों में यदि अनियोजित रूप से पर्यटन विकास होता है तो वह पर्यावरण के लिए एक खतरा भी पैदा कर सकता है । ऐसे में विभिन्न क्षेत्रों के पर्यटन विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न कठिनाईयों और उनके निदान के प्रयत्नों से सबक लेकर एक बेहतर पर्यावरण से पूर्ण सन्तुलित पर्यटन विकास को सही दिशा देना सम्भव है । इसी परिप्रेक्ष्य में इस इकाई में सार्थक चर्चा का प्रयास किया गया है ।

20.2 गोवा में पर्यटन विकास

गोवा, जो कि पूर्व में एक पुर्तगाली कॉलोनी था और भारत की आजादी के बाद इसे आजाद कराया गया । भारत के पश्चिमी सेन्ट्रल समुद्र तट पर स्थित है । गोवा के समुद्र तट की लम्बाई 106 कि.मी. दूर है जिसमें से 65 कि.मी. का क्षेत्र रेतीला समुद्र तट है । इन्ही तटों या ‘ बीचेज ’ पर सैलानियों का मेला लगा रहता है ।

अपने मोहक दृश्वों वाले समुद्रतटों, खाडियों, समुद्री बिचेज चमकती रेत पर धूप से खिले दृश्यों के कारण यह पर्यटन विकास की प्रारम्भ से ही सम्भावनाएं लिए हुए था । पर्यटन पर झा समिति (1969) ने जिन 20 पर्यटक स्थलों को पर्यटन विकास के लिए महत्वपूर्ण माना था उनमें गोवा का 'कालंगुट बिच' भी एक था । सबसे पहले यह समुद्री तटस्थल हिप्पीयों के आकर्षण का केन्द्र बना । उसके पश्चात् तो पर्यटकों की रूचि गोवा की ओर बढ़ी है । कालंगुट बिच, अर्जुन, कोल्वा आदि की सुनहरी छटा, पर्यटकों की पसन्द बन गई और गोवा, भारत के पर्यटन नक्शे पर उभरकर सामने आया । इस समय गोवा के प्रमुख उद्‌योग के रूप मे पर्यटन का दर्जा प्रथम है । यहाँ के वाणिज्य एवं व्यापार को बढ़ाने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पर्यटन की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है । एक अनुमान के अनुसार गोवा वासियों में 20 प्रतिशत ऐसे है जो पर्यटन से सीधे लाभान्वित हो रहे हैं । उनकी रोजी का यह प्रमुख जरिया बन गया है ।

गोवा में पर्यटन का विकास इतनी तेजी से हुआ है कि गत दो-तीन दशक में गोवा में पर्यटकों की आवक में निरन्तर इजाफा होता रहा है । 1973 में जहाँ लगभग 12 लाख देशी और 8,371 विदेशी पर्यटक आये वहीं बाद के 20 साल में अर्थात् 1992 तक 7,74,568 विदेशी और 8,96,019 देशी पर्यटकों ने भ्रमण किया और इस प्रकार 7.3 प्रतिशत की वृद्धि अंकित की ।

इस समय तो यह अनुमान लगाया गया है कि गोवा आने वाले पर्यटकों की संख्या वहाँ की आबादी के बराबर पहुँच गई है । इससे वहाँ समुद्रतटों एवं अन्य स्थानों पर होटलों के विकास में 77 प्रतिशत इजाफा हुआ है । अधिकांश पर्यटक समुद्रतटों पर बने होटलों में ठहरना पसन्द करते हैं । 1993 में गोवा आने वाले विदेशी पर्यटक 1.2 लाख थे जिनमें 51 प्रतिशत यू.के. से, 32.7 प्रतिशत जर्मनी के तथा बाकी स्वीडन, फीनलैंड आदि के थे । घरेलु सैलानियों और विदेशी पर्यटकों का अनुपात 90:10 था ।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि किसी भी स्थान के पर्यटक स्थल के रूप में विकास के लिए एक प्रमुख आकर्षण का केन्द्र बिन्दु होना आवश्यक है और गोवा के समुद्रतटों के सौन्दर्य और प्राकृतिक दृश्यों ने वहाँ पर्यटन में प्राण फूँके । इसके अलावा और भी उपाय हैं जो पर्यटन को गति देने में सफल होते हैं । गोवा में पर्यटन का अगला कदम आगे तब बढ़ा जब परम्परागत एवं सांस्कृतिक धरोहर से पर्यटकों को आकर्षित करने के अलावा वहाँ पर्यटन का परिवर्तिकरण या डायवर्सिफीकेशन करके मौज या आराम एवं साहसिक (एडवेंचर) पर्यटन की शुरूआत की गई । अब से दो दशक पूर्व 1985 के पर्यटन मौसम जर्मनी से चार्टर हवाई उड़ान से 3500 जर्मन पर्यटक गोवा लाये गये । साथ ही सरकार की उदारीकरण नीति से पर्यटन मौसम में यूरोप के कई भागों से यात्री विमानों से पर्यटक आने लगे । यहाँ तक की 1994 में 300 चार्टर विमानों से 60 हजार परदेशी पर्यटक सीधे गोवा पहुँचे । रेलवे ने भी 'पैलेस ऑन व्हील' रेलगाड़ी गोवा तक चलाकर वहाँ के पर्यटन को बढ़ाने में योग दिया । इसके अलावा हर 10 साल में सेन्ट फ्रांसिस जेवियर के अवशेषों के प्रदर्शन के समय दुनिया के आर्थिक पर्यटकों का वहाँ जमाव होने से भी यह उद्योग उन्नत हुआ है ।

इसके अलावा पंजीम और उसके मीरामार समुद्री तट तथा डोनापाल तट से सूर्यास्त की मोहक झलक का आकर्षण भी पर्यटकों को अपनी ओर आकृष्ट करता है । वहाँ इन समुद्री तटों या बिचेज को फ्लड लाईटों या अन्य प्रकार से रोशन किया गया है और पर्यटकों के लिए सुरक्षित बनाने के भी प्रयास किये गये हैं । इन तटों पर जनसुविधाओं या टोयलेट्स तथा ' चेजिंग रूमस् ' की भी व्यवस्था की गई है । इस प्रकार गोवा ने पर्यटन विकास में अपनी समुद्री तट सम्पदा को बेहतर बनाने के प्रयास किये हैं ।

गोवा में नदियों और जलस्रोतों का विस्तृत जाल फैला हुआ है । अरब सागर तो महत्त्वपूर्ण है ही । डोनापाला तट से 65 हजार वर्ग मीटर तक वाटर स्पोर्टस विकसित किये गये हैं । वाटर इन्स्टीट्यूट स्थापित की गई है । जून से अगस्त में मौसम के कारण पर्यटन मौसम नहीं रहता । 450 सालों के पुर्तगाली प्रभाव से गोवा में पूर्व और पश्चिम की जीवन शैली का मिलन हुआ है । गोवा के भोजन एवं सांस्कृतिक मेलों त्यौहारों के प्रचार-प्रसार से भी सरकार ने

गोवा के पर्यटन को विकास के आयाम देने के प्रयास किये हैं । पर्यटन के बढ़ने के साथ गोवा में कई 5-स्टार होटलस् एवं 3-स्टार होटलस् एवं रिजोर्टस् खुले हैं ।

पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए गोवा रजिस्ट्रेशन ऑफ टूरिस्ट ट्रेड एक्ट 1982 को 1985 से लागू किया गया ताकि होटलस्, ट्रेवल एजेन्सियों, टूर ऑपरेटर्स, डीलर्स, टूरिस्ट गाईडस्, टूरिस्ट ट्रांसपोर्ट आदि की गतिविधियों का नियमन किया जा सके । साथ ही पर्यटकों की सुरक्षा के लिए समुद्र तटों, रेलवे स्टेशनों, बस स्टेन्ड्स आदि पर टूरिस्ट पुलिस फोर्स तैनात की गई ताकि पर्यटकों का विश्वास अपने सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत रह सके । लपकों और असामाजिक तत्त्वों से पर्यटकों की रक्षा करने एवं उन्हें ठगे जाने से बचाने के इस प्रकार उपाय किये गये । सरकार ने दरअसल पर्यटन विकास को गति एवं सार्थक दिशा देने के लिए नीतिगत उपाय करने के साथ-साथ ढाँचागत सुविधाओं को बढ़ाने में भी गहरी रूचि ली ।

इस प्रकार समुद्र-तटों, मंगेशी एवं कावलेम के मंदिरों, मस्जिदों, गिरिजाघरों आदि के कारण गोवा आने वाले धार्मिक एवं अन्य प्रकार के पर्यटकों को ठहरने की, आने-जाने की तथा मध्यम दर्जे के पर्यटकों को भी हर प्रकार की सुविधाएं देने के प्रयासों ने पर्यटन को एक नया आयाम दिया है । इस अध्ययन से स्पष्ट है कि हर क्षेत्र में स्थानीय स्थितियों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक उपाय किये जायें तो पर्यटन का सम्पूर्ण परिदृश्य बदल सकता है ।

20.3 हिमालय क्षेत्र में पर्यटन

दक्षिण एशिया में हिमालय को पर्यटकों के आकर्षण का इस समय प्रमुख केन्द्र माना जाता है । हिमालय की सम्पूर्ण पर्वत-श्रृंखलाएं अपने रोमांच से पर्यटकों को अभिभूत कर देती है । लेकिन क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य में इनके दूर-दूर तक फैले आकर्षण को देखें तो भिन्न-भिन्न बातें सामने आयेगी । हिमालय केवल प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए ही नहीं बल्कि इसमें भारत की आत्मा का वास है और प्रागैतिहासिक काल से तीर्थयात्री हिमालय की गोद में अवस्थित अपने श्रद्धास्थलों की यात्रा को पवित्र यात्रा और जीवन की सार्थकता मानते आये हैं । 1962 में चीनी हमले के बाद हिमालय क्षेत्र में सड़कों के निर्माण से पर्यटन का द्वार खुला । हाल ही में हिमालय की ओर पर्यटकों के आकर्षण में वृद्धि का कारण मुख्यतया यूरोप और उत्तरी अमेरिका में पर्वतारोही है । इसके बाद साहसिक पर्यटक और पैकेज टूरस् का आयोजन भी उपयोगी रहा । विदेशी पर्वतारोही दलों के बाद भारतीय पर्वतारोहियों का भी हिमालय की ओर रूझान बढ़ा । इस प्रकार परम्परागत रूप से चल रहे धार्मिक पर्यटन के बाद पर्वतारोहियों ने साहसिक पर्यटन को बल दिया ।

हिमालय की ओर आने वाले पर्यटकों की संख्या के बारे में कठिनाई है क्योंकि क्षेत्रीय स्तरों पर आंकड़े उपलब्ध होते हैं और इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि सम्पूर्ण पर्यटक परिदृश्य प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है । फिर भी 1990 में हिमालय की यात्रा करने वालों की संख्या 1.33 मिलियन बताई जाती है जो 1994 में 1.54 मिलियन मानी गई है ।

बहरहाल आंकड़े कुछ भी बोलें, दुनिया के पर्यटकों का आकर्षण हिमालय में कम नहीं है । देशी पर्यटकों की संख्या विदेशी पर्यटकों से अधिक है । अधिकांश पर्यटकों का आकर्षण दिल्ली, जयपुर, आगरा, बम्बई जैसे वे नगर होते हैं जहाँ पहुँचना आसान है और कम समय में

पर्यटन स्थल देखना सम्भव है । कुछ लोगों का मानना है कि भारत आने वाले पर्यटकों ने अपने लक्ष्य स्थलों में अधिक परिवर्तन नहीं किया है और गत कुछ सालों में हिमालय की ओर रूख करने वाले पर्यटकों की संख्या में बहुत इजाफा नहीं माना जा रहा है ।

हिमालय में रूचि रखने वाले पर्यटकों का अधिकांश भाग लद्दाख आता है । 1984 से पहले भारत आने वाले पर्यटकों में से 10 प्रतिशत लोग कश्मीर घाटी की यात्रा करते थे । यह आकर्षण से भरपूर पर्यटक-स्थल था लेकिन राजनैतिक अस्थिरता एवं हिंसक वातावरण के कारण इसमें कमी आई है । 1987 के आंकड़ों के अनुसार 8-10 प्रतिशत पर्यटक हिमालय से साक्षात्कार करने के लिए हिमाचल प्रदेश की यात्रा करते रहे हैं । विदेशी पर्यटकों के लिए शिमला, धर्मशाला, मनाली और कुल्लू घाटी विशेष आकर्षण के केंन्द्र है । पहाड़ी पर्यटक स्थलों में शिमला, दार्जलिंग, नैनीताल, अल्मोड़ा, रानीखेत, डलहौजी आदि पर्यटकों की पसन्द हैं । बद्रीनाथ, केदारनाथ, यमनोत्री, गंगोत्री आदि का हिन्दुओं के लिए विशेष महत्त्व है और इन पवित्र स्थलों की यात्रा काफी प्रतिशत में लोग करते हैं ।

इस प्रकार विदेशी पर्यटक भारतीय हिमालय के पश्चिमी भाग अर्थात् लद्दाख, कश्मीर घाटी, मनाली, कुल्लू आदि के अलावा गढ़वाल, कुमाऊँ, पूर्वी हिमाचल प्रदेश, पर्यटकों के आकर्षण के विशेष स्थान हैं ।

हिमालय की पर्वतश्रृंखलाओं की ट्रेकिंग में विदेशी सैलानियों एवं कुछ शहरी भारतीय युवाओं की रूचि रहती है । हिमालय की ऊँची चोटियों पर स्थित श्रद्धास्थलों की पावन यात्रा अधिकांश हिन्दू करते हैं और पश्चिमी सैलानियों का इस ओर कम झुकाव है । इस प्रकार भारत में पर्वतीय स्थलों की यात्रा, धार्मिक आस्था के साथ अधिक की जाती है । दूसरी प्रकार के वे लोग हैं जो जलवायु बदलने के लिए पर्वतीय स्थलों पर जाते हैं । धार्मिक दृष्टि से तीर्थस्थलों की यात्रा करना तो परम्परागत रूप से एक जन-पर्यटन या मास टूरिज्म है । गढ़वाल के तीर्थस्थल अर्थात् बद्रीनाथ, गंगोत्री की यात्रा वाहनों में भी की जा सकती है परन्तु केदारनाथ, यमनोत्री एवं हेमकुण्ड के लिए घन्टों पैदल या खच्चरों से जाना सम्भव है । इन पर्वतीय तीर्थस्थलों पर वे ही यात्री जाते हैं जिनकी प्रेरणा धार्मिक शक्ति होती है । आम पर्यटक का लक्ष्य तो स्थान विशेष का दृश्यावलोकन करना होता है । 1980 के एक सर्वेक्षण के अनुसार 1980 में केवल पर्यटन के लिए इन दुर्गम स्थलों पर जाने वाला का 26 प्रतिशत था । लेकिन उसके बाद इन स्थानों की यात्रा को काफी सुगम बनाने के प्रयास किये गये हैं जिससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि पर्यटकों की संख्या में काफी सुधार हुआ होगा ।

धार्मिक पर्यटन से हटकर देखें तो पर्वतीय पर्यटन स्थलों का विकास 19वीं सदी में अंग्रेजी शासन में हुआ क्योंकि वे गर्मी से बचने के लिए इन स्थलों पर जाते थे । 1947 में भारत के आजाद होने के बाद भारत के सम्पन्न एवं मध्यम वर्ग के लोगों ने भी अंग्रेजों की नकल पर गर्मियों में पर्वतीय स्थलों पर आराम एवं मनोरंजन के लिए गर्मी के मौसम में जाना शुरू कर दिया । शिमला, दार्जलिंग, डलहौजी को छोड़कर विदेशी सैलानियों की अपेक्षा पर्वतीय स्थलों का पर्यटन भारतीय ही ज्यादा करते हैं । शिमला, अंग्रेजों की गर्मी में राजधानी होती थी । शिमला के बगीचे भी आकर्षण के केन्द्र हैं तथा हिमालय के सौन्दर्य का भी यहाँ से अवलोकन

किया जा सकता है । इसके कारण यह लोकप्रिय है और धर्मशाला में दलाई लामा का आवास है, इसलिए तिब्बत की संस्कृति में रूचि रखने वाले पर्यटक वहाँ का भ्रमण करते हैं । अधिकांश हिल-स्टेशनस् पर होटल, रेस्तरां, यातायात आदि के साधन उपलब्ध है । इन सब कारणों से इन पर्वतीय स्थानों पर विदेशी पर्यटन को बढ़ावा देना सम्भव है । यूरोप और उत्तरी अमेरिका के पर्यटकों की बहुत ही कम संख्या होगी जो बिना कुछ किये आराम के दिन इतनी दूर इन स्थलों पर बिताना चाहते हैं ।

आजादी के बाद भारत में ऐसे पर्वतीय पर्यटन स्थलों का विकास किया गया है जो जलवायु के कारण लोकप्रिय होने के साथ-साथ साहसिक पर्यटन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है । ऐसे स्थानों में हिमाचल प्रदेश के कुल्लू और मनाली एवं कश्मीर घाटी में पहलगाँव प्रमुख हैं । ट्रेकिंग एवं पर्वतारोहण में अधिक सक्रिय युवा पर्यटकों की रूचि रहती है ।

विदेशी सैलानियों की पर्वतीय स्थानों में दृश्यावलोकन, पर्वतारोहण एवं ट्रेकिंग के लिहाज से ही अधिक रूचि होती है । पर्वतारोहियों की पर्यटन के लिए ढाँचागत सुविधाओं की मांग नहीं होती । उनका आकर्षण हिमालय क्षेत्र में लद्दाख में भी रहता है जहाँ ट्रेकिंग मार्गों के साथ तिब्बत की संस्कृति का भी अवलोकन किया जा सकता है।

हिमालय क्षेत्र में लद्दाख की राजधानी लेह में भी पर्यटन सुविधाएं बढ़ी हैं । इस कारण यह भी पर्यटन आकर्षण के केन्द्र के रूप में विकसित हुआ है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिमालय क्षेत्र में पर्यटन के विविध प्रकार विकसित हुए हैं ।

हिमालय में पर्यटन विकास की भारी सम्भावनाएँ और भी हैं । पर्वतीय स्थानों के पर्यावरण एवं परिस्थितियों से इन क्षेत्रों के लोगों का जीवन भी कठिनाईयों से भरा होता है । ऐसे में पर्वतीय स्थलों की पर्यटन क्षमता का अधिकतम उपयोग हो तो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ के निवासियों को काफी राहत मिल सकती है।

लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि पर्यटन विकास को गति देने के प्रयासों में हिमालय क्षेत्र के वासियों की संस्कृति एवं पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचाने के भी प्रयास करने जरूरी हैं । इसका तात्पर्य यह है कि पर्यटन का विकास स्थायी तौर पर टिकाऊ होना चाहिए । प्रकृति एवं संस्कृति का संरक्षण करने वाला पर्यटन विकास होना चाहिए ।

बाजार की शक्तियाँ पर्यटन के सन्दर्भ में भी अपना काम करती हैं । बाजार, संस्कृति या पर्यावरण के चिन्तन में कम रूचि रखता है । इसलिए विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर सरकार का नियन्त्रण और नजर का रहना परमावश्यक है । यद्यपि राज्य सरकारें प्रादेशिक पर्यटन की व्यवस्था करती है लेकिन केन्द्र सरकार ने भी अपनी नीतिगत बातों की इस प्रसंग में सिफारिश की है जिनमें कहा गया है कि पर्यटन का लक्ष्य क्षेत्र का सामाजिक, आर्थिक विकास करते हुए रोजगार को बढ़ावा देना है । बजट के अनुरूप घरेलु पर्यटकों में वृद्धि के प्रयास भी आवश्यक हैं । इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय विरासत के संरक्षण एवं पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने के प्रयास भी आवश्यक हैं । अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन में वृद्धि करने के प्रयासों से विश्व पर्यटन में भारत की हिस्सेदारी को बढ़ाने के लिए समुचित उपाय किये जाने चाहिए ।

इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उचित व्यूह-रचना तैयार करने की आवश्यकता है जिसमें पर्यटन की ढाँचागत सुविधाओं में सुधार करना, कुछ चुने हुये क्षेत्रों का पर्यटन-विकास की

दृष्टि से समेकित विकास करना, साथ ही ऐसे स्थलों की मार्केटिंग करना, शामिल है । यहाँ यह समझना भी आवश्यक है कि पर्यटन का बड़े पैमाने पर विकास के साथ संस्कृति एवं पर्यावरण के प्रदूषण के खतरे भी जुड़े हैं । अत: पर्यटन विकास इस प्रकार नियोजित किया जाना जरूरी है कि पर्यटन विकास भी हो और संस्कृति एवं पर्यावरण भी सुरक्षित रहे । पर्यटन योजना में इस तथ्य को प्रमुखता तो दी गई है लेकिन यह नहीं बताया है कि ऐसा किस प्रकार किया जाना चाहिए । यह पर्यटन नीति में एक दोष है ।

ढाँचागत विकास में होटल, रेस्तरां आदि का विकास शामिल है जिनके लिए सरकार द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता है । ऋण उपलब्ध कराने का प्रावधान भी है । हेरिटेज होटल्स के लिए भी सरकार की प्रोत्साहन योजनाएं हैं । इससे महलों और हवेलियों की देखभाल करने के कार्य को भी समर्थन मिलता है । सरकार की नीति में त्यौहारों और पर्वों को प्रोत्साहित करने का भी प्रावधान रखा गया है जैसे कि कुल्लू का दशहरा ।

इस प्रकार संगठित रूप से पर्यटन विकास पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए सरकार ने 15 पर्यटन सर्किट की सूची तैयार की है । साथ ही कुछ विशेष पर्यटन स्थलों पर अधिक ध्यान दिये जाने का संकेत भी दिया है । इन चुने हुए पर्यटन-मार्गों या ट्रेवल सर्किट्स में कुल्लू-मनाली-लेह, बागडोगरा-सिक्किम दार्जलिंग कालिम्पोंग, ऋषिकेश, गंगोत्री-बद्रीनाथ एवं मनाली सोलांग नालहा प्रमुख है । इनमें दो पर्यटन मार्गों जैसे मनाली, बद्रीनाथ की और भारी जन-पर्यटन का जमाव रहता है और इसका पर्यावरण पर गहरा दबाव भी इस कारण है । सिक्किम सर्किट भी काफी समय से स्थापित है लेकिन सख्त नियमन से यहाँ पर्यटकों की आवक कम हुई है । गंगोत्री एवं बद्रीनाथ सर्किट परम्परागत मार्ग है जिन पर यात्रियों का दबाव निरन्तर बना रहता है । इसलिए इस दबाव को देखते हुए वैकल्पिक मार्ग खोजने की आवश्यकता है । धार्मिक स्थलों एवं पर्वतीय स्टेशन्स पर विदेशी सैलानियों को छोड़कर भारतीय पर्यटकों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया जाना चाहिए । साथ ही हिमाचल प्रदेश में कसौली, पोढ़ी, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि में पर्यटन को प्रोत्साहन देकर हिमालय क्षेत्र के गहन पर्यटन को सन्तुलित करना चाहिए । साथ ही होटल, संगठित सुविधाओं जैसे गाईड, होर्सेज, फूड आदि की व्यवस्थाओं को बेहतर बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए । योजनाकारों एवं नियोजकों को यह भी सोचना होगा कि पर्वतीय पर्यटन की दृष्टि से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन में बहुत कम हिस्सा है । इसमें पाकिस्तान एवं नेपाल के साथ भारी प्रतिस्पर्द्धा है । इस कारण भारतीय एवं विदेशी सैलानियों का आकर्षण बढ़ाने के लिए सुविधाओं में और सुधार आवश्यक है ।

इस प्रकार हिमालय में विभिन्न प्रकार के पर्यटक समूहों के लिए पर्यटन की अपार सम्भावनाऐं हैं । यद्यपि इस सम्भावना के दोहन के मार्ग में कुछ समस्याऐं भी हैं ।

20.4 अवध क्षेत्र में पर्यटन

गोवा और हिमालय के पर्यटन परिदृश्यों की चर्चा के बाद यदि आप अवध क्षेत्र के सांस्कृतिक पर्यटन पर दृष्टि डालें तो वहाँ की पर्यटन विशेषताएं और समस्याएं इनसे भिन्न मिलेगी । उत्तरप्रदेश को इसकी प्राकृतिक छटा, संस्कृति एवं विरासत की समृद्धि के कारण आप 'लघु भारत' की संज्ञा दे सकते हैं । यहाँ पर्यटन की अपार सम्भावनाएं हैं । इसके उत्तर में

अवध स्थित है । यह शिवालिक पर्वत श्रृंखलाओं के दक्षिण में है । यह ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से पर्यटन का महत्वपूर्ण केन्द्र है । यह उन नवाबों की विरासत भी लिए हुए है जिन्होंने लखनऊ को इस क्षेत्र का प्रमुख नगर बनाया । अवध में पर्यटकों के आकर्षण के लिए विशेष कुछ नहीं है लेकिन धार्मिक दृष्टि से भारतीय पर्यटकों की इसमें रूचि हो सकती है।

आवस्ति, बौद्धतीर्थ, एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन स्थल है जहाँ अधिकांश अर्थात् अवध में 55 प्रतिशत पर्यटक आते हैं । यहाँ आने वाले पर्यटकों बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या नेपाल, श्रीलंका, थाईलैंड, जापान एवं अन्य दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के लोगों की होती है । दूसरा आकर्षण खेरी का दूधवा राष्ट्रीय अभयारण्य है । इनके अलावा पर्यटन की दृष्टि से लखनऊ एवं देवाशरीफ महत्त्वपूर्ण है । लखनऊ और देवा शरीफ का आकर्षण मुस्लिम देशों के लिए है जो यहाँ अपना धार्मिक सांस्कृतिक स्रोत ढूँढते हैं । यहाँ सूफी सन्त की मजार है । मजार पर हिन्दू-मुस्लिम सभी आते हैं ।

इसके अलावा अवध या अयोध्या का भारत की प्राचीन संस्कृति एवं राम के प्रसंग से गहन सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । साथ ही नैमिशरण्या, सामसपुर आदि वन्यजीव अभ्यारण भी आकर्षण के केन्द्र हैं । अवध क्षेत्र में अन्य स्थानों में गोला गोकरनाथ, लालगंज वन, सीतापुर, टांडा आदि शामिल हैं ।

सम्पूर्ण अवध क्षेत्र का भौगोलिक एवं धार्मिक-परिवेश देखें तो यहाँ ग्रामीण एवं फार्म पर्यटन अर्थात् सरल टूरिज्म एवं फार्म टूरिज्म के विकास की सम्भावनाएं हैं ।

इस क्षेत्र में प्रादेशिक, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर के पर्यटन को दिशा दी जा सकती है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन की अधिक सम्भावना यहाँ नहीं है । क्षेत्र में लखनऊ के आसपास जो पर्यटकों की आवक है, उनमें अधिक संख्या हिन्दुओं की होती है जो किसी न किसी तीर्थस्थल या धार्मिक-स्थल की यात्रा करते हैं । इनमें 8 प्रतिशत मुस्लिम होते हैं ।

भगवान राम और बुद्ध के प्रसंगों के कारण सदियों से तीर्थयात्रियों के लिए अवध, आकर्षण का बड़ा केन्द्र रहा है । अयोध्या का धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है और भारत के धार्मिक नक्शे पर सात बड़े धार्मिक-स्थलों में अवध भी एक है । स्वाभाविक है कि इस कारण यहाँ का राष्ट्रीय महत्त्व है और लोग भगवान राम के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए यहाँ आते हैं । भगवान् बुद्ध भी अपने जीवन में लम्बे समय तक उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग के तराई के मैदानों में रहे । लेकिन सावास्ती के अलावा यहाँ कोई भी स्थान पर्यटन के लिहाज से विकसित नहीं हो सका ।

यद्यपि आधुनिक पर्यटन में ठहरने खाने-पीने की सुविधाओं को महत्वपूर्ण माना जाता है लेकिन भारतीय तीर्थ-यात्रियों की यात्रा-शैली इससे बिल्कुल भिन्न रही है । वे परम्परागत रूप से कठिन परिस्थितियों में साधारण ढंग से तीर्थयात्राएं करते हैं और आलीशान जगहों पर ठहरने या होटलस् रेस्तरां संस्कृति से दूर रहते हैं । इसलिए उन्हें यात्रा में अति आवश्यक एवं न्यूनतम सुविधाएं चाहिए । इसलिए धार्मिक पर्यटन के क्षेत्र में आधुनिक सुविधाएं कम विकसित हुई और यात्रा-मार्ग में धर्मशालाएं या अन्य साधारण स्थल ठहरने के लिए विकसित हुए ।

आधुनिक पर्यटन का सम्बन्ध शानदार सुविधाओं से जुड़ा है जबकि परम्परागत तीर्थयात्रा का परिवेश बिना यातायात, होटल्स, रेस्तरां आदि साधनों को तैयार किया गया था । इस क्षेत्र में पर्यटन सम्भावनाओं की दृष्टि से केवल लखनऊ, घरेलु एवं विदेशी पर्यटन विकास के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है । यह नगर, आगरा-दिल्ली-बनारस के स्वर्ण-त्रिकोण के नजदीक है । इस शहर को पर्यटन की दृष्टि से विकसित करने के लिए होटल्स का खास विकास नहीं हुआ है केवल ताज समूह ने गोमती नगर में पहल की है । लखनऊ के विकास में इसका घटता पुराना रूप और बढ़ती आधुनिक शैली और वायु, जल, ध्वनि प्रदूषण में भारी वृद्धि आदि बाधाऐं हैं । अभी भी बहुत कुछ शेष है और इसकी सांस्कृतिक विरासत और तहजीव का बचाने के योजनाबद्ध उपाय किये जा सकते हैं ।

इस सन्दर्भ में पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए यह एक बेहतर संकेत है कि यूनेस्को ने लखनऊ के इमामबाड़े, रूमी गेट, रेजीडेन्सी आदि के संरक्षण की योजना बनाई है । दरअसल, पर्यटन विकास के लिए नगर की पुरानी सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण करना और इसके प्राचीन रंग को बनाये रखना आवश्यक है । क्षेत्र के पर्यटन विकास का दूसरा महत्त्वपूर्ण केन्द्र दुधवा पार्क, लखीमपुर खेरी, का क्षेत्र अपने प्राकृतिक वातावरण एवं वन्य जीवन के कारण विकसित किया जा सकता है।

दरअसल, भारत में पर्यटन विकास के संगठित उपायों की शुरूआत, भारतीय पंचवर्षीय योजनाओं के साथ आजादी के बाद हुई है । अयोध्या के घाटों की मरम्मत जैसी सार्वजनिक सुविधाओं के विकास का विचार प्रारम्भ हुआ। यदि आधुनिक सन्दर्भों में सोचें तो अवध क्षेत्र में अभी पर्यटन विकास के लिए योजनाबद्ध ढंग से ढाँचागत सुविधाएं जैसे आवास या यातायात में सुधार जैसे मुद्दों को लेकर इस दिशा में आगे बढ़ने की बात बहुत दूर है । यद्यपि सरकारी स्तर पर पर्यटन बंगलों, यूथ होस्टलस्, यात्री निवास आदि के निर्माण का सिलसिला जरूर शुरू हुआ है । लखनऊ जैसे प्रमुख सांस्कृतिक नगर में संस्कृति एवं कला के प्रोत्साहन के लिए लखनऊ पर्यटन महोत्सव जैसे कार्यक्रम इस ओर कुछ बेहतर वातावरण बना सकते हैं । इस दिशा में गोमती नदी से वाटर स्पोर्ट के विकास की भी राज्य सरकार की योजना है । साथ ही पर्यटन प्रशिक्षण संस्थान शुरू करने की योजना भी है । लखनऊ के पर्यटन लेखकों को आमंत्रित करने पर भी विचार किया जा रहा है । यह शुभ संकेत है कि सरकारी खेमों में क्षेत्र विशेष के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए पर्यटन को प्रोत्साहन देने और क्षेत्रीय असंतुलन कम करने पर विचार-विमर्श का दौर शुरू हुआ है । यदि सरकारें अपने प्रदेशों में पर्यटन सर्किट विकसित करने के बारे में सोचे तो कई कम महत्व के पर्यटन स्थलों के विकास में भी योग मिल सकता है ।

इसलिए कई ट्रेवल सर्किट्स में केन्द्र सरकार ने धार्मिक यात्रा मार्गो में से बौद्ध यात्रा मार्ग या बुद्धिस्ट ट्रेवल सर्किट को स्वीकृति दी है । इस यात्रा मार्ग में भावस्ती गौंडा, अयोध्या और लखनऊ को शामिल किया गया है । इसके लिए भारत सरकार ने जापान सरकार से वित्तीय सहयोग लिया है । अवध क्षेत्र का दूसरा ट्रेवल सर्किट, वन्य-जीवन पर्यटन मार्ग है ।

इस प्रकार योजनाबद्ध ढ़ंग से इस क्षेत्र में पर्यटन को गति देने का सिलसिला शुरू हुआ है । धार्मिक, प्राकृतिक, सांस्कृतिक आदि सन्दर्भो में अवध सहित भारत में अनेक स्थल ऐसे हैं जो योजनाबद्ध रूप से विकसित किये जायें तो भारत का पर्यटन नक्शा भी बदल जाये और

पर्यटन उद्योग रोजगार एवं आर्थिक-सामाजिक विकास का एक महत्वपूर्ण स्रोत प्रभावित हो सकता है ।

20.5 बुन्देलखण्ड में पर्यटन

बुन्देलखण्ड का क्षेत्र भारत में एक विशेष प्रकार का है क्योंकि यहाँ का एतिहासिक परिवेश, जलवायु आदि विभिन्न कारक समान हैं । यह पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ है एवं यहाँ काफी प्राकृतिक स्रोत हैं, उत्तर से दक्षिण की ओर यह एक प्रकार का द्वार है जहाँ आक्रमणकारी अपना मार्ग बनाते थे । इससे लोग भी सुदृढ, आत्म विश्वास एवं ईश्वर में आस्था रखने वाले बने । यहाँ की सांस्कृतिक धरोहर में विविधता है और वह काफी ठीक हालत में भी है । इसके उत्तर में यमुना, दक्षिण में विन्ध्याचल पठार हैं और उत्तर-पश्चिम में चम्बल । इसमें मध्यप्रदेश के दमिश, रिकमगढ़, छत्तरपुर एवं पन्ना आते हैं । साथ ही जालौन, झाँसी, हमीरपुर और बान्दा, ये चार उत्तर प्रदेश के जिले शामिल हैं ।

बुन्देलखण्ड का प्राचीन इतिहास है । बुद्ध के समय ईसा-पूर्व 600 में बुन्देलखण्ड में 6 प्राचीन शहर थे। इस क्षेत्र में कई वंशों के नरेशों ने शासन किया और 14वीं सदी में मुगलों के आक्रमण के बाद बुन्देलों का भी शासन रहा । यद्यपि यहाँ मुगलों की सार्वभौमिकता रही लेकिन बुन्देलों के गुरिल्ला युद्धों के कारण वे इन पर नियन्त्रण नहीं रख सके ।

रानी झाँसी जिसने अंग्रेजों से लोहा लिया । 13वीं से 18वीं सदी के बीच बुन्देलखण्ड, बुन्देला शासकों, मराठों एवं रोहिला शासक के बीच संघर्ष का केन्द्र रहा । यहाँ के प्रमुख पर्यटन अभिरूचि के क्षेत्रों में अजयगढ़, कालिंजर, ओरछा, महोक, दत्तिया, झाँसी, देवगढ़, चन्देरी तथा विश्व प्रसिद्ध खजुराहो हैं ।

बुन्देलखण्ड में अजयगढ़ का दुर्ग प्रसिद्ध है जिसे अजयपाल ने बनवाया । यह बहुत विशाल है और आक्रमणों के समय क्षेत्र की सारी आबादी इसमें समा सकती थी । यहाँ का स्थापत्य अत्यन्त मनोहारी है । यहाँ नृत्य मुद्रा में गणेश, काली, दुर्गा एवं काले पत्थर की विष्णु की विशाल मूर्ति के अलावा शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है । यहाँ के मंदिर, उगता सूरज, कमल, भवनों की शोभा आदि से स्थापत्य कला की उत्कृष्टता झलकती है । 1809 में अंग्रेजों के आक्रमण ने इस दुर्ग को तहस-नहस करके भारी हानि पहुँचाई ।

बुन्देल की शान में कालिंजर का दुर्ग भी चार चाँद लगाने वाला है क्योंकि यह दुर्ग हिन्दुओं की शक्ति का प्रतीक है । यह विन्ध्या पहाडियों मे स्थित है । यह चन्देला नरेशों की समृद्धि भी दर्शाता है । इस दुर्ग पर मोहम्मद गजनी, कुतुबुद्दीन एबक जैसे लोगों ने आक्रमण किये । मुगलों ने इस महादुर्ग एवं इसके अस्तित्व को भारी नुकसान पहुँचाया । दुर्ग के सात द्वार हैं । यह पर्यटकों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र है । यहाँ पत्थरों में तराशी गई हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिमाएं, देवालय, छतरियों की जालीदार कारीगरी और स्थापत्य देखते ही बनता है । यहाँ का नीलकंठ शिव मंदिर भी अत्यन्त पवित्र स्थल माना जाता है । अफगानिस्तान के शेरशाह ने भी इस पर कब्जा किया था । औरंगजेब के शासनकाल के बाद इस पर छतरसाल, बुन्देला ने शासन जमाया और उसके पश्चात् यह अंग्रेजों के अधीन हो गया । पवित्र गंगा के

करीब कालिंजर की पवित्र पहाड़ियाँ, तीर्थयात्रियों के आकर्षण का भी केन्द्र है क्योंकि यहाँ ऋषि-मुनियों ने तपस्या की थी । लेकिन इसकी ऊँचाई पर पहुँचना काफी श्रम साध्य है ।

बुन्देलखण्ड में ओरछा भी ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान है जो बुन्देला नरेशों की शक्ति को प्रदर्शित करता है । यहाँ के महल और मंदिर भव्य हैं और यह भी एक लोकप्रिय पर्यटन स्थल हैं । ओरछा का निर्माण 1531 में हुआ । यह 1783 तक राजपूत साम्राज्य था और उनकी राजधानी भी । वीर सिंह देव ने यहाँ 1605 से 1627 तक शासन किया और झाँसी के दुर्ग का निर्माण कराया । मुगलों में सलीम को यह खास पसन्द था । 1606 में यहाँ जहाँगीर आया । 17वीं सदी का प्रारम्भ यहाँ का स्वर्ण काल माना जाता है । इस नगर पर जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ने ही हमले किये । शाहजहाँ के लिए यहाँ शाहजहाँ महल बनवाया गया । यहाँ कई महल और मंदिर सुन्दर स्थापत्य कला के नमूने हैं ।

चन्देला राजाओं ने महोश में भी कई मंदिर बनवाये मदन सागर जैसे जलस्रोत बनवाये जिनके बीच भव्य शिव मंदिर हैं । यहाँ कालभैरव की मूर्ति, गणेश की नृत्य मुद्रा शिव एवं अन्य प्रतिमाएं अत्यन्त मोहक हैं । चन्देलों का पर्वत पर बना यरखारी दुर्ग भी महत्त्वपूर्ण है । यह तीन तरफ से पानी से घिरा है । गृहकुन्डार का काले ग्रेनाईट की चट्टानों से बना दुर्ग भी देखने योग्य है । मुगलों के आक्रमण ने इसे नष्ट प्राय: कर दिया और इसके अवशेष मात्र रह गये हैं । दतिया भी बुन्देलखण्ड में महत्वपूर्ण स्थल है । यह झाँसी से 26 कि.मी. दूर है । अब विरान पड़ा है । वीर सिंह देव का यहाँ 7 मंजिला महल है । यह भव्य इमारत है जिसमें आज भी सुन्दर भित्ति-चित्रण देखने को मिलता है । चारदीवारी में घिरा यहाँ का दुर्ग एवं महल अत्यन्त सुन्दर हैं । ये राजपूत एवं मुगल स्थापत्य के भारत में महत्त्वपूर्ण भवन हैं । इसी प्रकार बुन्देलखण्डों के आलीशान मंदिरों, महलों और दुर्गों की श्रृंखला में सम्थार का तीन सुरक्षात्मक व्यूहरचना वाला दुर्ग भी प्रसिद्ध है जो भारत का एकमात्र गुर्जन राज्य था । यहाँ भी भव्य महल और मंदिर हैं ।

बुन्देलखण्ड की यात्रा में झाँसी भी एक महत्वपूर्ण पड़ाव है जो ग्वालियर में लगभग 100 कि.मी. दूर है । यह उत्तरप्रदेश की सीमा पर स्थित है और खजुराहो जाने के लिए सुविधाजनक स्थल है । झाँसी के साथ रानी लक्ष्मीबाई का नाम जुड़ा है जिसने बहादुरी के साथ अंग्रेजो के दाँत खट्टे कर दिये थे । यहाँ रानी महल संग्रहालय प्रसिद्ध है । इसी प्रकार बेतवा नदी के दोनों किनारों पर स्थित देवगढ़ एवं चन्देरी है । इनकी व्यूहरचना विशेष है और यहाँ कई युद्ध लड़े गये थे । यहाँ भी दुर्ग, जैन मंदिर, भव्य मूर्तिकला देखने को मिलती है और यह स्थल भी मुगलों से अच्छूता नहीं था और उनका शिकार हुआ । माण्डु के शक्तिशाली समय चन्देरी भी महत्वपूर्ण स्थान था । यहाँ भी महलों, मंदिरों आदि के अवशेष मौजूद हैं ।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड के दुर्गों, महलों, मंदिरों और स्थापत्य की उत्कृष्टता एवं समृद्धि का कोई जवाब नहीं है । इतिहास और संस्कृति का एक लम्बा सिलसिला बुन्देलखण्ड की कोरव में समाया हुआ है । पर्यटन महत्त्व के इस क्षेत्र का एक प्रमुख या स्टार एट्रेक्शन या आकर्षण है - खजुराहो । यहाँ चन्देला राजाओं की राजधानी थी । यह दुनियाँ को एक बड़ा उपहार है और हजारों विदेशी सैलानी यहाँ की भारतीय स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प के चमत्कारों को देखकर

अभिभूत हो जाते हैं । यहाँ के मंदिरों के भीतर का भव्य मूर्तिशिल्प जहाँ मोहित करता है वहीं इनके बाह्य भाग में यौन-क्रियाओं सम्बन्धी मूर्तिशिल्प भी दर्शाता है कि किस प्रकार शिल्पियों को सबसे पहले इन्द्रिय विकृतियों की अभिव्यक्ति का अवसर देकर इसके बाद की परिष्कृत मानसिकता के साथ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गढ़ने की ओर प्रेरित किया जाता था और भारतीय मंदिर निर्माण कला कितनी वैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रही हैं ।

खजुराहों में हर साल आयोजित नृत्य समारोह भी दुनियाँ के पर्यटकों के लिए आकर्षण का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है । मध्यप्रदेश की पुरा सम्पदा एवं संस्कृति के अपार भंडार और खजुराहो ने यहाँ के पर्यटन को नये आयाम दिये हैं । यही कारण है कि बुन्देलखण्ड एक अत्यन्त लोकप्रिय पर्यटन क्षेत्र है ।

बुन्देलखण्ड की एतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा और विविधता ने अनेक आघात सहने के बावजूद भी अपने अवशेषों में अपना अस्तित्व कायम रखा है और जो कुछ बचा है, वह भी इतना समृद्ध और भव्य है कि आज भी पर्यटकों का मन मोह लेने की क्षमता रखता है । इस दिशा में कई संगोष्ठियों एवं चर्चाओं के द्वारा इस अपार सम्पदा का उपयोग पर्यटन की दृष्टि से करने के कई प्रयास किये जा रहे हैं । मंदिरों, इमारतों एवं महलों की लम्बी श्रृंखला का अवलोकन करने के लिए यातायात एवं आवास आदि के समुचित प्रबन्ध करने भी पर्यटन विकास के लिए आवश्यक हैं । इसलिए पर्यटन स्थलों को सड़क मार्गों से जोड़ने एवं अन्य यातायात के साधन उपलब्ध कराने के साथ-साथ आवास सुविधाओं को बढ़ाने के लिए होटल्स, हेरिटेज होटल्स् की व्यवस्थाओं के बारे में भी सोचा है । ओरछा में जहाँगीर महल को हेरिटेज होटल के रूप में विकसित किया गया है । साथ ही रेल या हवाई यातायात सुविधाओं को बढ़ाने और हस्तशिल्प को लोकप्रिय बनाने के उपाय किये जा रहे हैं ।

बुन्देलखण्ड का गौरवमय इतिहास और संस्कृति एवं इसके विरासत के समृद्ध खजाने की समुचित देखरेख, सार-सम्भाल, आवश्यक ढाँचागत व्यवस्थाओं में सुधार आदि उपायों के द्वारा इस क्षेत्र की पर्यटन क्षमता का समुचित दोहन करना सम्भव है ।

इस प्रकार बुन्देलखण्ड की चर्चा से यह भी स्पष्ट है कि दुनिया के कई देशों में पर्यटन सम्भावनाएं हैं लेकिन भारत में पुरातत्व, इतिहास, प्राचीन संस्कृति एवं आधुनिक सन्दर्भों के साथ जितनी विविधता एवं समृद्धि से भरपूर पर्यटन सम्भावनाएं एवं क्षमता है शायद ही कहीं ओर हो ।

20.6 प्रकृति और पर्यटन

मनुष्य की प्रकृति से रिश्ता अत्यन्त प्राचीन है और भारत में तो संस्कृति और सभ्यता का उदय एवं पोषण अरण्यों या प्रकृति की गोद में ही हुआ है । ऋषि-मुनियों के वनों के एकान्त में स्थिति और प्राकृतिक वातावरण से परिपूर्ण सन्दर्भों और तपोवनों से मनुष्य की यात्रा आरम्भ हुई है । एक प्रकार से मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं । यही कारण है कि दुनियाँ के पर्यटकों की ऐसी भारी तादाद है जिन्हें हिमालय का प्राकृतिक सौन्दर्य या नैनीताल का प्राकृतिक परिवेश और झीलें या बुन्देलखण्ड की पर्वतमालाएं आमन्त्रण देती है और वे इनकी अद्भुत छटा से अभिभूत हो जाते हैं ।

दुनियाँ के कई देशों ने इसी कारण से अपनी प्राकृतिक सम्पदा और सौन्दर्य को संजोकर रखने के प्रयास किये हैं जिससे यह प्राकृतिक सम्पदा, उनके लिए पर्यटन विकास एवं रोजी का आधार बनी है । इन्हीं तथ्यों के सन्दर्भ में पर्यटकों की अभिरूचि को देखते हुए भारत में भी प्राकृतिक स्थलों, अभ्यारण्यों एवं वन्य जीवन से सम्बन्धित स्थलों के विकास पर ध्यान देना शुरू किया गया है ।

यहाँ उत्तरप्रदेश में स्थित और प्राकृतिक पर्यटन से सम्बन्धित गोविन्द पशुंविहार की पारिस्थितिकी एवं पर्यटन को लेकर प्रकृति-पर्यटन के बारे में चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

जो देश अपने को विकसित मानते हैं, उनका ख्याल है कि विकासशील देशों में प्राकृतिक सम्पदा अभी भी बची है । विकसित देशों के नाम से यह तो पता चलता ही है कि इनमें औद्योगिकीकरण एवं भौतिक प्रगति हुई है जो प्राकृतिक स्रोतों एवं सौन्दर्य का शोषण एवं दोहन करके उन्हें विकृत कर देती है ।

बहरहाल, विकासशील देश भी इसी लकीर पर चल रहे हैं लेकिन आज भी कई देशों में प्रकृति के कुछ चिन्ह मिलते हैं और उनकी सार-सम्भाल की जाती है तो वे पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र बन सकते हैं । हाल ही के समय में पारिस्थितिकीय पर्यटन या इको-टूरिज्म की लोकप्रियता बढ़ने लगी है । दरअसल, यह धारणा 1983 में स्पष्ट होने लगी जब कोस्टारिका में एक टूर ऑपरेटर ने अपने पर्यटन व्यवसाय को ‘ इको टूरिज्म ’ के नाम से पंजीकृत करवाया । इसके बाद कई पर्यटन लेखकों ने पत्र-पत्रिकाओं में इस शब्द का प्रयोग करना शुरू कर दिया । पारिस्थितिकीय पर्यटन को इस प्रकार परिभाषित किया गया है ।

वह पर्यटन यात्रा जो अपेक्षाकृत शान्त और प्राकृतिक क्षेत्रों में की जाये जहाँ अध्ययन की विशिष्ट सामग्री उपलब्ध हो और जहाँ पर्यटक प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करके उनसे आनन्द प्राप्त कर सके, साथ ही जहाँ वन्य जीवन की उन्मुक्त जीवनचर्या, सांस्कृतिक महत्त्व के स्थल हैं, तो ऐसी पर्यटन प्रक्रिया को पारिस्थितिकीय पर्यटन कहा जाता है । यद्यपि पारिस्थितिकीय एवं प्राकृतिक स्थलों में अभिरूचि रखने वाले पर्यटकों के लिए वैज्ञानिक, सौन्दर्य बोद्धपरक या दार्शनिक दृष्टि का होना या इन लक्ष्यों को लेकर पर्यटन यात्रा करना आवश्यक नहीं है लेकिन पारिस्थितिकीय परिवेश से ये मुद्दे जुड़े रहते हैं । दरअसल दैनिक जीवन में कोई भी पर्यटक जिन प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेने में सफल नहीं होता, वह पारिस्थितिकीय पर्यटन के माध्यम से ऐसा अवसर प्राप्त करता है जो उसे प्रकृति की सरलता और सौन्दर्य से रोमांचित कर दे । इस प्रकार इस तरह का पर्यटन, एक जागृति और चेतना उत्पन्न करता है जो व्यक्ति को अपने पर्यावरण एवं प्रकृति के संरक्षण की ओर प्रेरित कर सके । पारिस्थितिकीय या प्रकृति के बीच भ्रमण का अलग ही अनुभव होता है । इसलिए भीड़-भाड़ और भागदौड़ के व्यस्त जीवन से दूर किसी प्राकृतिक स्थल पर जाकर वह आनन्द की अनुभूति करना चाहता है और प्रकृति से अपने अनादिकाल से चल आ रहे रिश्तों के सूत्र तलाशता है ।

प्रकृति का पर्यटन से जुड़ना एक उत्साहवर्द्धक संकेत है । विकास के नाम से बिना सोचे समझे प्रकृति एवं वन्यजीवन के विनाश पर तुले मनुष्य की समझ में अब आने लगा है कि

धरती के सौन्दर्य, सन्तुलन एवं उसके तथा उसकी भावी पीढ़ियों के सुरक्षित एवं स्वस्थ जीवन एवं अस्तित्व के लिए प्रकृति कितनी अहम् है । साथ ही इसके संवर्द्धन और संरक्षण से पर्यटन में भी वृद्धि की जा सकती है और रोजगार, आर्थिक, सामाजिक प्रगति को भी गति देना सम्भव हो सकता है ।

दरअसल प्रकृति की समृद्धि से जुड़ा पर्यटन हर दृष्टि से लाभदायक एवं उपयोगी है । इससे प्रकृति का संरक्षण एवं संवर्द्धन भी होता है और साथ ही पर्यटन विकास को भी दिशा मिलती है ।

लेकिन पर्यटन विकास के इस सन्दर्भ से कई खतरे भी जुड़े हैं । इससे शान्त वन्यजीवन एवं प्रकृति के विकास में बाधा भी पड़ती है । अत: प्रकृति एवं पारिस्थितिकीय पर्यटन विकास को योजनाबद्ध एवं सन्तुलित ढंग से नियोजित करना आवश्यक है ।

भारत में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जो नगरीय जीवन से दूर वनों एवं वन्य जीवन की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं और जहाँ लोग अपने रीति-रिवाजों और संस्कृति की परम्परागत राह पर चलते हैं । इन कम विकसित एवं एकान्त स्थलों की शान्त एवं सहज जीवन की अस्मिता को हानि पहुँचाये बिना यदि ढाँचागत सुविधाओं से इनकी प्राकृतिक सम्पदा को जोड़ दिया जाये तो पर्यटन की दृष्टि से यह एक उपयोगी प्रयास हो सकता है । लेकिन इस प्रक्रिया में संयम और सावधानी के साथ नियोजित प्रयत्न होने चाहिए ।

ऐसे स्थानों की सुविधाओं की दृष्टि से भी सीमाएं होती है जिनके विकास को भी आगे बढ़ाना जरूरी हो जाता है । यहाँ यह कहना भी उपयुक्त होगा कि प्राकृतिक स्रोतों के दोहन में अत्यन्त अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है । जब पर्यटन में वृद्धि होती है तो प्रकृति एवं उसके स्रोतों का एक प्रकार से क्षय होने का खतरा भी मंडराने लगता है । अत: यहाँ वे सब उपाय जरूरी हो जाते हैं जिनसे पर्यटन भी बढ़े और प्रकृति का संरक्षण भी हो ।

दरअसल, पारिस्थितिकीय पर्यटन के विकास में कुशल प्रबंधन की विशेष जरूरत होती है । पारिस्थितिकीय पर्यटन के सन्दर्भ में उदाहरण के रूप में हिमालय पर्वत श्रृखंलाओं की गोद में स्थित गढ़वाल के उत्तरकाशी क्षेत्र की चर्चा कर सकते हैं । यहाँ का गोविन्द पशु विहार अभयारण्य 953 कि.मी. लम्बा है । 1991 में इस 472 वर्ग कि.मी. क्षेत्र को उत्तरप्रदेश सरकार ने राष्ट्रीय पार्क घोषित किया था । इस अभयारण्य का अधिकांश भाग पहाड़ी है । आसपास की पर्वत श्रृंखलाओं की चोटी पर बर्फ का जमना, ग्लेशियर, झीलें आदि आम दृश्य हैं । वृक्षावली और प्राकृतिक सौन्दर्य से यह क्षेत्र आच्छादित है । यहाँ फूलों की घाटी भी है जहाँ फूलों के रंग-रूप अत्यन्त मनमोहक हैं ।

जैसा कि प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक वैभव के संरक्षण के प्रति एक उदासीनता का आम रवैया रहा है, यहाँ भी इस अभ्यारण्य को संरक्षित किये जाने के समय लोगों ने इसके काफी हिस्से पर धीरे-धीरे कब्जा करके खेती करना शुरू कर दिया था । इसके बाद राष्ट्रीय अभयारण्य को यहाँ के वन्य जीवन की समृद्धि को देखते हुए 1955 में वन्य-जीव अभयारण्य के रूप में भी मान्यता दी गई ।

क्षेत्र के निचले भागों में कई प्रवासी, गुर्जर, मुसलमान, पशुपालक आदि 4-6 माह अपने पशुओं की चराई के लिए यहाँ रहते हैं । यहाँ के मूल निवासी रेवाइन्स उस क्षेत्र में लम्बे समय से बाकी जीवन से कटे हुए एकान्त में रहते आये हैं ।

इन मूल निवासियों की लोक वेशभूषा, बोली, परम्पराएं, धार्मिक रीति-रिवाज एवं जीवनशैली गढ़वाल की जीवनशैली से लगभग मिलती-जुलती है । ये लोग लकड़ी से निर्मित घरों में इस शान्त प्राकृतिक वातावरण में जीवन-यापन करते हैं । इनका मुख्य काम खेती एवं पशुपालन है ।

इस क्षेत्र में आजादी के बाद वनों का दायित्व वन विभाग के पास आ गया और क्षेत्र में कई प्रकार के परिवर्तनों का दौर चला है । 1988 से वन्यजीव संभाग गोविन्द पशु विहार की देखरेख कर रहा है । इस विभाग की धारणा है कि पार्क का प्राकृतिक रूप सुरक्षित रहे । साथ ही इसके विकास में यह तत्पर हैं । यद्यपि देश के कई अन्य अभयारण्यों की तरह यहाँ भी स्थानीय निवासियों एवं चरवाहों का दबाव इस पर रहता है । परन्तु एक और इसके संवर्द्धन के प्रयास हैं तो दूसरी ओर पर्यटन विभाग भी पर्यटन विकास के लिए यहाँ प्रयत्नशील है ।

यहाँ की समस्या यह है कि अभयारण्य के संरक्षण एवं संवर्द्धन का दायित्व निभाने वाले वन विभाग एवं पर्यटन विभाग के बीच आपसी संवाद या सहयोग का अभाव है । इस कारण इसके संवर्द्धन एवं विकास में स्थानीय लोगों की रूचि भी नहीं है । इस तथ्य को समझना और उससे लाभ प्राप्त करना अभी बाकी है कि अभयारण्य एवं पर्यटन दोनों के विकास के साथ क्षेत्र के आर्थिक-सामाजिक विकास का मुद्दा भी जुड़ा है । इसके लिए प्रकृति संरक्षण, पर्यटन विकास एवं स्थानीय लोगों में चेतना आदि में समन्वय आवश्यक है ।

अभयारण्य क्षेत्र में सड़कों के निर्माण, आसपास होटलस् आवास सुविधाएं बढ़ाने, यातायात के साधनों के सुधार के द्वारा पर्यटन को गति देने की व्यूहरचना का क्रियान्वयन उचित रूप में नहीं हो पाता । चराई क्षेत्र पर पाबन्दियों से भी समस्याएं उत्पन्न हुई है । स्थानीय लोगों में अभी यह चेतना भी नहीं है कि क्षेत्र की प्राकृतिक सम्पदा के संरक्षण एवं उससे पर्यटन विकास को गति देने से उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ बदल सकती है और उनके विकास को गति मिल सकती है।

इस प्रकार इस क्षेत्र में इन सब मुद्दों की बदले परिवेश में महत्ता एवं उपयोगिता के प्रति एक चेतना पैदा करने की जरूरत है । वास्तव में, पर्यटन विकास के वर्तमान परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित पक्षों को अवगत कराना और उनके एहसास में इसकी उपयोगिता को बैठाना अत्यन्त आवश्यक है । क्षेत्र में पारिस्थितिकीय पर्यटन विकास की विपुल सम्भावनाएं मौजूद है लेकिन एक सन्तुलित एवं नियोजित प्रयास के साथ इन सम्भावनाओं का दोहन करने के लिए ढाँचागत सुविधाओं के विस्तार एवं इसकी उपयोगिता के प्रति एक सजग वातावरण की रचना करना जरूरी है ।

20.7 सारांश

इस इकाई में आपने अनुभव किया होगा कि भारतीय पर्यटन कितना विविध है । गोवा के समुद्री तट और प्राकृतिक छटा, हिमालय के प्राकृतिक रंग, अवध का प्राचीन रूप, बुन्देलखण्ड

के दुर्गों, मंदिरों और महलों की शोभा आदि में भारतीय इतिहास, कला, शिल्प और संस्कृति के गौरवपूर्ण रंग दिखाई देते हैं । आपने यह भी अनुभव किया होगा कि अनेकों विदेशी आक्रमणों और उनके द्वारा भारतीय संस्कृति की गौरवमय परम्परा के प्रमाणों अर्थात् मंदिरों, महलों, दुर्गों आदि को नष्ट करने के प्रयास किये गये । लेकिन "मुद्दई लाख बुरा चाहे तो क्या होता है, होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है।" इन थपेड़ों और आघातों के बावजूद आज भी भारतीय संस्कृति का परचम दुनियाँ में शान से लहरा रहा है और अनेकों देशी-विदेशी पर्यटकों की नजरें भारत पर टिकी हुई हैं।

वर्तमान सन्दर्भों में पर्यटन विकास के इन केन्द्रों और इनकी ढाँचागत सुविधाओं की समुचित देखरेख एवं सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है ।

आज भी भारत के अनेक छोटे-बड़े पर्यटन-स्थल विरान हैं । आवास, यातायात आदि सुविधाओं के विकास के साथ पर्यटन-स्थलों पर विशेष ध्यान देने की आज भी जरूरत है । यद्यपि आजादी के बाद कुछ बदला है लेकिन अनेक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के कारण पर्यटन विकास और सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए जिस प्रकार के सघन प्रयासों की आवश्यकता थी, वह हम पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं कर पाये हैं । अभी भी हमें पर्यटन को रोजगार-वृद्धि, आर्थिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बहुत कुछ करना शेष है । यद्यपि केन्द्र एवं प्रादेशिक सरकारों के संयुक्त प्रयासों से काफी कुछ किया जा रहा है लेकिन वह सन्तोषप्रद नहीं है क्योंकि भारत में प्राकृतिक आघातों एवं स्मगलरों के हाथों बहुत कुछ लुट जाने के बाद भी इतनी सांस्कृतिक धरोहर है कि इसकी समृद्धि के कारण यह अभी तक महसूस नहीं किया गया है कि वह खजाना लुट जाये तो फिर नहीं बनता । यह अमूल्य है और पीढ़ियों की धरोहर है जिसका संरक्षण करना वर्तमान पीढ़ी का महत्वपूर्ण दायित्व है ।

विभिन्न पर्यटन रूपों एवं मामलों की चर्चा से यह तो स्पष्ट है कि हर क्षेत्र और हर पर्यटन स्थल की अपनी विशेषताएं हैं और प्रत्येक की अपनी विकास सम्बन्धी समस्याएं हैं । विगत में जो हुआ सो हुआ । जब जागे तब सवेरा है । अब भी समय है कि हम इस विस्तार से फैली अपनी सांस्कृतिक धरोहर के प्रति जागृत होकर और प्रचार-प्रसार के उपयुक्त तरीके अपनाकर भारतीय पर्यटन को एक नई दिशा और नया आयाम देने का प्रयास करें। प्रादेशिक एवं केन्द्रीय सरकार के स्तर के प्रयासों को भी विस्तार देने और निजी क्षेत्र की सक्रिय भागीदारी के साथ पर्यटन से आर्थिक-सामाजिक स्तर पर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के प्रयासों को तेजी और गति प्रदान की जानी चाहिए । यदि संकल्प और गति के साथ इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास किया जाये तो भारतीय पर्यटन उद्योग देश की आर्थिक प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ बन सकता है ।

20.8 उपयोगी साहित्य

1. Kaur, J 1985 Himalayan Pilgrimages and the New Tourism, Himalayan Books, New Delhi.
2. Profiles of Indian Tourism 1996 Editor Shalini Singh & Consulting Editor, Tejvir Singh, A.P.H. Publishing Corp., New Delhi.

3. Kamat U.D., 1993 - Development of Tourism, Development & Management of Coastal Areas, Institute of Town Planners, India, New Delhi (Paper).
4. Distt. Gazetter of Jhani, 1909 & Bundel Khand, 1874.
5. Bisht. H., Ecological Impact of religion touristic activities in the Gangotri Himalaya, Concept, New Delhi.

20.9 अभ्यास प्रश्न

1. हिमालय क्षेत्र में पर्यटन विकास के उपायों पर प्रकाश डालिए ?
2. पर्यटन विकास के सांस्कृतिक प्रदूषण की दृष्टि से क्या प्रभाव हो सकते हैं?
3. बुन्देलखण्ड में पर्यटन विकास की क्या सम्भावनाएं हैं?
4. प्रकृति का पर्यटन से क्या सम्बन्ध है?
5. अवध क्षेत्र के पर्यटन की क्या विशेषताएं हैं?